

प्रकाशक :

सत्यनि आनंदीश

भोला बारी,

आगरा



पृष्ठ तीन दफ्ता



२ अक्टूबर १९९१



पृष्ठ

आजादीन दिवस

विविध

दिल्ली ६

प्रकाशकीय निवेदन

- ♦ अहिंसा तत्त्व-दर्शन, हमारे पूर्व-प्रकाशन, अहिंसा दर्शन का ही सशोधित, परिर्वर्धित सक्षिप्त संस्करण है। लेकिन इस संस्करण का इतना कामा-कल्प हो गया है कि पुस्तक करीब करीब नवीन ही बन गई। इसलिए इस पुस्तक का नाम अहिंसा-दर्शन के स्थान पर अहिंसा तत्त्व-दर्शन कर दिया गया है।
- ♦ इस पुस्तक का सम्पादन हमारे साहित्यिक साथी श्री सतीशकुमार जी ने जिस परिश्रम के साथ किया है, वह विशेष रूप से स्मरणीय है। सम्पादन होने के बाद उपाध्याय श्री जी ने पूरी पुस्तक का स्वयं पारायण करके उसका सशोधन भी कर दिया है।
- ♦ इस पुस्तक का प्रकाशन, सम्पूर्ण अहिंसा-साहित्य में और विशेष रूप से जैन साहित्य में अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अहिंसा का इस तरह का शास्त्रीय, वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण विश्लेषण अब तक जैन-साहित्य में तो उपलब्ध था ही नहीं, अन्य हिन्दी-साहित्य में भी दुर्लभ ही था। इसलिए हम अपने पाठकों को यह पुस्तक भेंट करते हुए विशिष्ट प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। इस पुस्तक के मुद्रण का कार्य कुछ शीघ्रता में हुआ है इसलिए यदि कोई त्रुटि पाठकों के ध्यान में आये, तो वे हमें क्षमा करें और उस तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करें।

मन्त्री

सन्मति ज्ञानपीठ

लोहामण्डी, आमरा

(उत्तर प्रदेश)

सम्पादकीय निवेदन

उपाध्याय अमरमुनि की यह पुस्तक अहिंसावादियों और शांतिवादियों के अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि आज दुनिया में अहिंसावादी कार्यकर्ताओं के लिए इस तरह के साहित्य की बहुत कमी है। सासवीर से हिन्दी में तो कटीब-कटीब नहीं के समान है। जो साहित्य उपलब्ध है वह भी इतना बुरा और दुर्बल है कि सामान्य कार्यकर्ताओं को साधारण जीवन की बातें समझने के लिए उन पुस्तकों से यह योज नहीं मिलता। काफी महारा चिन्तन और काम कर लेने के बाद भी ये पुस्तकें आम कार्यकर्ताओं के लिए, लाभदायी साबित नहीं होती हैं। परन्तु यह पुस्तक बहुत ही सरल भाषा में और बहुत ही सरल ढंग से अहिंसा-तत्त्व को समझाने के लिए तैयार की गई है। क्योंकि अमरमुनि एक जैन मुनि हैं और जैन दर्शन का उन्होंने महाराई से अनुदीप्त किया है। इसलिये पुस्तक में जहाँ-तहाँ जैन सिद्धान्तों की छाप दिखाई पड़ती है। परन्तु मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि जैनोत्तर विचारकों के लिए भी इस पुस्तक में क्याही सामग्री है और मुख्यतः आज के जीवन में जो सिवाल पैदा होते हैं उनके समाधान के लिए यह पुस्तक एक सही मार्गदर्शक का काम देती है।

जी अमरमुनि एक अध्ययनशील और मनसशील विद्वान् हैं। न केवल इतना ही बल्कि उनका सारा जीवन अहिंसा की प्रत्यक्ष और क्रियात्मक साधना में लगा हुआ है। इसलिये वे अहिंसा और उससे सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर अपने मौखिक विचार रखते हैं और उन विचारों के आधार पर वे जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं के औचित्य का निर्णय करते हैं। क्योंकि अधिकांश विचारक केवल विचारक ही होते हैं। उनके जीवन

की साधना उस तरह की नहीं होती । किन्तु जैसे महात्मा गांधी जी, सन्त बिनोबाजी आदि कुछ महात्मा अपने जीवन को अहिंसा के आचरण के लिए खपाते हैं, उसी तरह श्री अमरमुनि ने भी अपने जीवन की साधना को अहिंसा के आधार पर विकसित की है ।

आज सारे ससार में हिंसा और अहिंसा के प्रश्न बहुत महत्व रखते हैं । ओर शान्ति तथा समाज-निर्माण के लिए अहिंसा की आवश्यकता को प्रायः सभी विचारक और नेता एक स्वर से स्वीकार करते हैं । इसलिए अहिंसा के सम्बन्ध में किसी इस तरह की पुस्तक का सम्पादन-कार्य करने में मुझे दिलचस्पी हो, यह सहज ही है । इसलिए और भी अधिक दिलचस्पी होती है, क्योंकि मैं सर्वोदय-समाज का एक नम्र कार्यकर्ता हूँ और अपने जीवन को अहिंसा के आचरण तथा प्रचार के लिए अर्पित करना चाहता हूँ । यदि मेरे जीवन में अहिंसा के आचरण की दृष्टि में थोड़ा-बहुत भी मैं सफल हो सका और इस तरह की पुस्तक के सम्पादन, लेखन एवं प्रकाशन के काम में थोड़ा भी हिस्सा बटा सका, तो यह मेरा ही सभदाग्य होगा । क्योंकि यदि जीवन का उद्देश्य अहिंसा की साधना है, तो उसके लिए सारे साधन भी अहिंसा-मूलक ही हों, यह अनिवार्य है । अतः हमें यह निरन्तर याद रखना है कि जीवन में अहिंसा को साधने के लिए सारी परिस्थिति को अनुकूल बनाना होगा । इस पुस्तक के सम्पादन में मेरी इस भावना ने मुझे निरन्तर प्रेरणा दी है और मैं इस काम को पूरा कर सका हूँ, इसके लिए मेरा हृदय आनन्द विभोर हो रहा है ।

१ महिला एक बीरव-वीरा	१
२ महिला की कहीरी	१
३ हिना के दो प्रकार	२१
४ बरह-हाथला	२६
५. महिला के दो रूप	३१
६ महिला का बालरह	४१
७. महिला की रीढ़	५१
८. प्रवृत्ति और निवृत्ति	६२
९. क्या महिला स्वावलम्बी नहीं है ?	७०
१. कर्म-व्यवस्था का मूक कण	७६
११. चापिबाद का वृत्त	८१
१२. बालकता का बीरव कर्म	८९
१३. पवित्रता का मूक बीरव	९६
१४. बीरव भी हिना है	१११
१५. रोटी का कर्म	११५
१६. अन्न का मूल्य	१२८
१. महिला की वचनमाला	१३४
१८. आर्थ कर्म और वार्थ कर्म	१४७
१. इति अन्तारह है	१५७
२. महिला और इति	१६७
१. बालाहार का मूल्य	१७४
महिला अतीत और वर्तमान	१७९

अहिंसा तत्त्व-दर्शन



उपाध्याय अमरमुनि



जीवन दर्शन के मोती

सनातन धर्म के और और काम, कर्तों को
बतलाना है। जो कि वे जानकी
मोती के नाम भी जानते रहते हैं ।

जीना वाली मोती करना नहीं, बल्कि
ईश्वर की स्तुति करना, अर्थात् मानव
जाति की सच्ची सेवा करना है ।

जो जीवन का जीवन छोड़कर जीता है
वही जीवित रहता है ।

विश्व जगत् ने लाखों संस्थापकों की
सहायता की है वह क्या तुम्हें जीव
देना ।

मानव-वृद्धि की गहरी चीनी यह है कि
हम अपनी वृद्धि को समुच्च करें ।

कर्तव्यों के बरतें बंधन से सच्चा मार्ग
है किना समुच्च नहीं है ।

जीवन का सच्चीत जगत् के लिए ही
करना चाहिए ।

—सद्गुरु जी

अहिंसा : एक जीवन-गंगा

मानव जाति के इतिहास में जितना वणन अहिंसा के सबंध में मिलता है, उतना अन्य किसी भी विषय में नहीं मिलता। क्योंकि मानवीय करुणा और मानवीय चेतना का मूल आधार अहिंसा ही है। अहिंसा मानव जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास बिंदु है। क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, दोनों ही प्रकार के भगल जीवन का मूल आधार अहिंसा है। यदि यह आधार टूट जाय तो जीवन खण्डित हो जायगा और मानवता मूर्छित हो जायेगी। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्ववधुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है उसके मूल में अहिंसा की ही भावना है। क्योंकि जीवन के चिरंतन सत्य को जोड़ने वाली कड़ी अहिंसा ही बन सकती है। मानव सभ्यता के सांस्कृतिक वातावरण में यदि हम किसी ऐसी चीज को रखना चाहते हों जो सरस हो, मधुमय हो, सुरम्य हो तो वह अहिंसा ही है।

हिंसा, अधिकार-लिप्सा, असहिष्णुता, सत्ता-लोलुपता और स्वार्थाघता से विपाकृत संसार में अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ विश्राम भूमि है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य अमृतमय कलश को पा लेता है। अपनी को और दूसरों को समान घरातल पर रखने के लिए अहिंसा की निर्मल आँखों से देखना होगा। यदि अहिंसा नहीं हो तो मनुष्य न स्वयं अपने को पहिचाने और न दूसरों को ही।

बहिष्ता धर्म का मूल है !



वही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों में एक स्तर के बहिष्ता के धोरण को स्वीकार किया है। मनुष्य के चारों ओर बिना शक्तिशाली का चेरा रखा हुआ है और यह चेरा बिना मजबूती के बाह्य बाधों की सर्वशक्तिशाली शक्ति को अवरुद्ध कर रहा है। जैसे लोहने का हल्का साम्यात्मिक शासन बहिष्ता ही बन सकती है। कर्म ऐसा धर्म है जो अपने मनु के बिकने के लिए और सब कुछ केकर चके किन्तु बहिष्ता की छोड़ है। कबला वृत्ति ईसा ने कहा है कि यदि तुम शर्चना के लिए एक मंदिर में जा रहे हो और सब समय तुम्हें बाह्य का बाध कि मेरी बहुत व्यक्ति के अवरुद्ध का अटका है, तो तुम्हें लौट जाना चाहिए क्योंकि अपने हस्त विरोधी में बना बाधना करने बिना शर्चना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।

बहुला महीन में जाने और कहा कि यदि कोई दुस्मन तुम्हारे एक बाध पर ठामावा मारे तो तुम दूसरा बाध भी उसके हाथों कर दो।

अब सबों की ही तरह, बालक अपने भी कभी अपना धर्म धर्म में बहिष्ता की स्थापना किया है। जबकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी अत्यंत शासना में बहिष्ता का एक देता बहुत संकीर्ण बहता जाता है जो मनुष्य की आत्मर-विभोर कर देता है। आज आज समता में धर्म धर्म का बीजा-दा धर्म वही समता जाता है कि यह बहिष्ता-अबाध धर्म है। सर्वोच्च धर्म धर्म में जीवन की अर्थात् व्यक्ति की ओर के जाने के लिए जिन मार्गों का विरोध किया है धर्म में बहिष्ता का स्थापन धर्म-बहिष्ता है। चाहे यह मार्ग ही या मूल्य

चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, चाहे वह युवक हो या बूढ़ा, सब के लिए सामान रूप से अहिंसा के पालन का प्रतिपादन किया गया है। जीवन की उत्कृष्ट साधना अहिंसा की साधना ही मानी गयी है। यदि अहिंसा की साधना में व्यक्ति सफल हो जाता है तो वह दूसरी सभी साधनाओं में आसानी से सफल हो सकता है।

अहिंसा का आधार



यदि अहिंसा है तो सत्य भी टिकेगा, अचीर्य भी टिकेगा, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना भी टिकेगी। जीवन के जितने भी ऊँचे आदर्श हैं उन सब की प्राप्ति का साधन अहिंसा ही है। जैसे जमीन के आधार पर ही यह विशाल महल, गाँव, नगर यानी सारी दुनिया टिकी हुई है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना की आधार-भूमि अहिंसा है। यदि अहिंसा का आधार न मिले तो अध्यात्मवाद का यह भव्य महल एक ऐसा ताश का महल साबित होगा, जो किसी हलके से धक्के के कारण गिर जाता है। इसलिए यदि मैं यह मानकर चलूँ कि इस विश्व की संपूर्ण परंपराओं का आधार अहिंसा ही है तो इसे अत्युक्ति न कहा जाय।

अब हमें यह समझना चाहिए कि अहिंसा का स्वरूप क्या हो। मैं नहीं समझता कि अहिंसा कोई आकाश-विहार की चीज है अथवा धर्म-ग्रन्थों में लिखी रहने लायक कोई रहस्यमय चीज है, बल्कि निश्चित रूप से अहिंसा जीवन में रोजमर्रा के व्यवहार में काम आनेवाली चीज है। मन का विवेक और जीवन का विवेक ही अहिंसा की भावना को जन्म देता है। हाथों का समय, पैरों का समय, बाणी का समय, इन्द्रियों का समय, मन का समय इत्यादि हमारे जीवन की ओ समय-मूलक प्रक्रिया है, वही अहिंसा है।

जब सड़क पर किसी चित्तवर्धन हुए प्राणी की हत्या देखते हैं, तब हमारे मन में एक सहज बचका और महानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। इन मरने की ठेक नहीं सड़ते और सहज ही चित्तवर्धन हुए प्राणी की सेवा के लिए अपने की समर्पित कर देते हैं। बाहिर यह क्या है ? यह अहिंसा की ही भावना है जो मरने सहज कर्षों में हमारे जीवन में प्रकट होती है।

अहिंसा का समग्र रूप



कोन ऐसा कहते हैं कि किसी प्राणी को न मारना वा किसी की हत्या न करना ही अहिंसा है। लेकिन वे अहिंसा के इन एकांगी बुद्धिकोश की ही समझ पाते हैं, ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि अहिंसा एक बड़ा जीवन-वर्धन है। कदावा सर्वत्र घटीर से भी कदावा न के जोड़नाओं के और चित्त की सुतिवी से है। जो सावक अहिंसा न इतना कि न केवल करीर से और न केवल बचन से बल्कि मन के भी किसी के प्रति बुरा विचार नहीं करेगा। कभी कभी ऐसा होता है कि आसपी घटीर के द्वारा किसी का नुकसान करन में वा किसी को मारने में वा किसी की हत्या करने में बाधमर्ष होता है। फिर भी यह मन-ही-मन नुकनो वा बाल भुनगा रहता है। उनके मन में नावा प्रकार की बचन सुतिर्वा देवा होती रहती है। ईर्ष्या और जीवन मत्सर इत्यादि नावा प्रकार की सुतिवी से बचका हुआ व्यक्ति और हिंसक है, जके ही यह किसी-की जीवन के प्राणी का अपहरण न करे। बाव हीर से जीवन बुद्धिकोश ने 'और जीवन चित्तकों के साहित्य में हमें यह विचार लभुर नावा में उपलब्ध होता है। बड़ा भावना के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। 'प्राणीय' बंधों में एक बाध उदाहरण देते हुए बताया गया है कि समुद्र में समुद्र

नामक एक क्षुद्र मत्स्य अपनी हिंसक भावना के कारण बड़े-बड़े मत्स्यों से भी अधिक हिंसक हो जाता है, जब कि 'वह मत्स्य' मन-ही-मन यह विचार करता है कि काश ! मैं भी बहुत बड़ा मगरमच्छ होता और तब समुद्र में फैले हुए हजारों जीव-जंतुओं को उदरसात् करता। उसकी यह कलुष भावना उसे घोर हिंसा के घेरे में डाल देती है। वाणी और शरीर की हिंसा से भी अधिक मन की हिंसा का स्थान है, क्योंकि जिस व्यक्ति के हृदय में अहिंसा का पावन स्रोत बहता रहेगा, वह व्यक्ति कभी भी वाणी से और शरीर से हिंसा का सहारा नहीं लेगा।

मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियाँ मन, वचन और शरीर की त्रिपुटी में आ जाती हैं। मानव जीवन इन्हीं तीनों के आस-पास घूमता रहता है। एक तरफ ऊँचा आकाश और दूसरी तरफ व्यापक, विशाल धरती। इन दोनों के बीच में मन, वचन और शरीर को धारण करने वाला मनुष्य। यदि वह इन तीनों के माध्यम से करुणा की सोयी हुई चेतना को जागृत कर ले, अन्तर में प्रेम के पुनीत प्रवाह को प्रवाहित कर ले, तो निश्चित ही उसके जीवन में एक मधुर आनंद भर जाये। तब धरती और आसमान के बीच फैले हुए इस विशाल ससार में कहीं भी दुःख, दैन्य, गरीबी, असतोष, अशांति इत्यादि दूषित भाव नहीं रहेंगे।

राक्षसी वृत्ति



हिंसा की भावना निहायत राक्षसी भावना है। भले ही बाहर से हमें मनुष्य का शरीर दिखाई देता हो, लेकिन अन्तर में वह राक्षस ही है जिसे न अपने आपका पता है और न अपने प्रमूल्य जीवन का पता है। जो वासनाओं में भटक रहा हो, जो द्वेष तथा

बलही की भावनाओं के छेदों लाया हो वह अनुपम है ऐसा करने के लिए बल इस्तेमाल नहीं देना। सम्पत्ति का वह अधिक चीज है। अनुपम के बाहर कोई इस दुनिया में कुछ भी नहीं है। चाहे मूर्ख का केन्द्र-विन्दु वह मानव ही है। बल मानव के बारे में किसी ऐसे व्यक्ति स्वयं की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि हिंसापूर्ण तथा दुष्टभावपूर्ण जीवन की परंपराओं में आरंभो बड़ा हो तो वह बल समझा जायेगी नहीं। अधिक उपलब्ध है या नहीं है, ऐसा कहना पड़ेगा।

राज और राज्य के इतिहास का अध्ययन करने के लिए हमें नहीं बल मानने की जरूरत नहीं है। हमारे अंदर ही तो राज्य की बुनियाद है। एक व्यक्ति राज की प्रतीक है और दूसरे व्यक्ति राज्य की प्रतीक है। यदि हम इच्छा करना चाहते हैं जीवन की सुलभता के दूर होकर अत्यंत सांस्कृतिक कल्पनाओं में लगे रहना चाहते हैं, तो हमें अहिंसा की साधन-पद्धति के अवधारण करके राज्यनयी बुद्धिओं की भी आवश्यकता होगी। कौटिल्य का राज है नहीं मौर्य नहीं होता। कोस नहीं होता अशोक नहीं होता। मौर्य का विद्रोह नहीं होता। मौर्य राज्य है नहीं मौर्य नहीं होता। मौर्य नहीं होनी मौर्य नहीं होता। मौर्यबुद्धि नहीं होती। राज और राज्य की इन धारणा के रूप में बने ही नहीं हैं। किसी व्यक्ति में एक राज्य की कोई बड़का पटी होती ऐसा भी बने ही नहीं बने। परन्तु केवल प्रतीक के रूप में ही यदि हम लोगों को स्वीकार करें, तो भी हमें बहुत जीवन की दो बारम्बार बने ही। एक बात ऐसी होती जो व्यक्ति निर्बल और आकर्षक होती तथा दूसरी बात ऐसी होती जो अधिक बुद्धि और जीवन होती।

समाधान अपने अंदर है



जीवन की अनेक समस्याएँ हैं। सारा ससार मनुष्य के सामने एक प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़ा हो जाता है। वेचारा मनुष्य अपने को असहाय और दीन महसूस करने लगता है। फिर वह इधर-उधर भागदौड़ मचाता है। समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने की कोशिश करता है। उसके भीतर एक ऐसी मिथ्या धारणा घर कर जाती है कि उसके जीवन की समस्याओं का हल कहीं बाहर होगा, इस दुनिया की किसी अमुक परिस्थिति में होगा। पर वास्तव में उसकी यह धारणा मिथ्या ही साबित होती है। जैसे किसी व्यक्ति को जख्म हाथ में लगा हो और वह मरहम पैर में लगाये, दंड़ सिर में हो और चदन हाथों में लगाये तब उसे समाधान नहीं मिलता। उसी तरह समस्याओं का समाधान अपने अंदर होने के कारण मनुष्य को बाहर भाग-दौड़ करने पर भी शांति नहीं मिलती। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि विकार कहा हैं ? इन विकारों की वृत्तियाँ कहा हैं ? यदि इसकी खोज की जाय तो मनुष्य को अतमसुखी होना पड़ेगा। उसे इसकी खोज अपने अंदर करनी पड़ेगी। विज्ञान ने सृष्टि की खोज में अपनी सारी शक्तियाँ जुटा दीं, लेकिन अभी भी उसे सतोष नहीं हुआ, क्योंकि जब तक आत्म-संशोधन की या विस्वात्मा के अन्वेषण की ओर हमारा ध्यान नहीं जायेगा तब तक हमें चिर समाधान की प्राप्ति नहीं हो सकती। मानव के मन में एक सहज प्रश्न उठता है कि मैं कौन हूँ ? और वहीं से सारी सृष्टि का ज्ञान प्रारंभ होता है। पर दुख है कि हमारे वैज्ञानिक और भूतवादी चिंतक "मैं" की खोज को भूलकर सृष्टि की खोज में जुट जाते हैं।

हमारे गुरुने विचारकों ने भी आत्मा की शक्ति को ह्रस्व के लिए घेरि बनाये मठ बनाये तीर्थ-स्नान बनाये फिर भी उन्हें समाधान नहीं मिला था। क्योंकि यदि बाहर पर नहीं कोई शक्ति लगी हो तब तो क्या ये स्नान करने, ये सफाई हो सकती है, केवल वह वह शक्ति अपने अंदर है तब किसी मठ, तीर्थ या सेवा-स्नान से शक्तिता कैसे हासिल हो सकती है ? वास्तव में तो सब-से-बड़ा मंदिर, सब-से-बड़ा तीर्थ सब-से-बड़ा धर्म सब-से-बड़ी मशरिफ अपनी आत्मा ही है । इतर-अंतर बटकने की कोई आवश्यकता नहीं है । मनुष्य को मनुष्य के अंदर गुरुने भी बखला है । यदि धारी सृष्टि में बटकने वाली मानव-सृष्टि अपने अंदर भी बड़ा बोर करे, तो निश्चय ही उसे अनेक नयी-नयी चीजें प्राप्त होंगी ।

प्रवृत्ति क्षेत्र



एक बार एक बौद्ध विद्वान् ने ईश्वरों हुए कहा "आपके बड़े पैताबीज काज्ज बोधन का मोक्ष माना गया है । जिसका क्या विस्तार है ? क्या इतना लम्बा-चौड़ा स्वान मोक्ष के लिए चेरा गया है ? क्या वह पर नहीं है ?

मैंने कहा, "मोक्ष के लिए इतना स्वान तो बाहिर ही क्योंकि वह इच्छा के लिए है । यही-यही इच्छा है यही-यही मोक्ष है । हमने ऐसा माना है कि वह भुज्जक पर मानव-सैन पैताबीज काज्ज बोधन एक है । इसीलिए हमने मोक्ष के स्वान की धारणा भी पैताबीज काज्ज बोधन की ही की है । मोक्ष का प्रविभागी इच्छा है । वह इच्छा अपनी आत्मा पर करी हुए करने धर्मों की विद्या

ढालता है, तब वह ईर्ष्या, द्वेष और कलह से ऊपर उठ जाता है। जब वह अनासक्त होकर श्रद्धापूर्वक आत्म-शोधन की प्रक्रिया में प्रवृत्त हो जाता है तब वह मोक्ष पा लेता है। उसे एक इंच भी, इधर-उधर होने की, अगल-बगल में गति बदलने की जरूरत नहीं है। वह जहाँ हौ, वहीं रहे, आत्मस्थ रहे। वस्तुतः वहीं में ऊर्ध्व-मुख अमृत की धारा बह रही है।” यह सुनकर वे अजैन विद्वान् हसे और बोले कि “मोक्ष-मिद्धि के लिए बड़े गजब का रूपक है यह।” तो मैंने कहा, “यह बनावट नहीं है, बल्कि जैन तत्त्व-चिंतन की अपनी एक विशेषता है।”

जैन धर्म अहिंसा की अमृत-गंगा का पावन स्रोत अपनी आत्मा के अंदर ही ढूँढता है। यही मेरे कहने का सार था।

वह गंगा कौनसी है जो हमारे ही अंदर बह रही है? वह अहिंसा और सत्य की गंगा है जो हमारी नम-नस में प्रवाहित है। यदि हम उस पावन गंगा में स्नान नहीं करेंगे तो हमारा जीवन पवित्र नहीं हो सकेगा।

जीवन को पवित्र करने के लिए अहिंसा एक जीवन गंगा है, जिसमें अवगाहन करने के बाद मानवता का संपूर्ण विकास हो जाता है और दम व शोषण का जो तकाव मानवता के सुंदर चेहरे पर आज पड़ गया है, वह सहज ही फट जाता है। |

अहिंसा की वसूली

[illegible]

कश्मिरा का स्वाम ईश्वर के नाम नहीं है। अथवा न् महावीर के कश्मिरा को बुधशरी का नाम दिया। क्योंकि बुध के स्वाम के

जितनी श्रद्धा भगवान् के प्रति होती है, उतनी ही श्रद्धा अहिंसा के प्रति भी होनी चाहिए। अहिंसा निश्चय ही पूजा की चीज है और श्रद्धा का केन्द्र है। भगवान् के दर्शन प्राप्त करने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। भगवान् तो हमारे अन्दर बैठा है। उस विराट् स्वरूप के भगवान् को हिंसा के काले परदे ने छुपा रखा है। यदि हम उसके दर्शन करना चाहते हो, तो अपनी पूरी शक्ति के साथ इस काले परदे को हटा देना चाहिए। यदि हम अपने अन्दर विराजमान इस भगवत् तत्त्व को नजर-अदाज करते हुए चलेंगे, ठुकराते रहेंगे, उसकी ओर से पीठ मोड़कर रहेंगे तो हमें उस परम तत्त्व के दर्शन कैसे होंगे ?

विकार वासनाओं के रूप में—दम, द्वेष और ईर्ष्या के रूप में अहंकार, लोभ और क्रोध के रूप में अहिंसा की महान् शक्ति पर हिंसा का जो परदा पड़ा हुआ है, उसे हटाने का उपाय कोई कठिन नहीं है। हमारे मन में जो छोटी-छोटी आसक्तियाँ हैं, आकांक्षाएँ हैं और अभिलाषाएँ हैं उनको हम दूर कर दें। मन से ऊपर उठने की साधना करें, अतिमनस् जगत की ओर चलें। वस, हमें उस महान् तत्त्व के दर्शन सहज हो जाएंगे। उसके लिए कहीं बाहर सघर्ष नहीं करना होगा। कहीं भी भटकने की जरूरत नहीं पड़ेगी। किसी खास समय की भी जरूरत नहीं होगी। चाहे हम दूकान में रहें, या घर में रहें, या मंदिर में रहें, कहीं भी रहे, यदि हमारी आँखों के सामने, हमारे विचारों के सामने, हमारी जीवन-साधना के सामने, हमारे छोटे-बड़े कामों के सामने अहिंसा का आदर्श लिखा हुआ रहेगा तो हम सहज उस भगवत् तत्त्व के दर्शन करने में समर्थ हो सकेंगे। अपनी मनोवृत्तियों को, अपने कर्मों को अहिंसा के तराजू में तोलने की जरूरत है। यदि हम छोटी-छोटी मानसिक उलझनों में उलझे रहेंगे, यदि हम मान-अपमान,

बल-अपबल इत्यादि चीजों में घटके रहने तो बलवान् तत्व के वर्णन की नहीं हो सकते ।

मन से ऊपर



जी बरखिब ने अहिंसवान् बल के तर्जुमे में आत्मन् सूक्ष्म वृद्धि से विवेचन किया है । वे लोग के बल पर अहिंसवान् की साधना करते इस बरती की एक ऐसी पावन और स्वर्णमय बरती बना आत्मने की कल्पना करते थे जिसमें कोई दुख नहीं होता पीनता नहीं होती भुख नहीं होता घबराहट नहीं होती तापशयिकता नहीं होती । यदि उनकी कल्पना की बहुराई तक हम पहुँचें और वह हमझने की कोशिश करें कि उनका वह चित्रण क्या था तो हमें आश्चर्य ही वह मान्य हो जायगा कि उनका विचार कोई आकाश-कल्पना या आध्यात्मिक आदर्श नहीं था । इस बरती पर एक भुङ्क नैबल है । यदि मनुष्य अपने मन पर विवेचन कर सके यदि वह अपने मन की साक्षात् से मुक्ति पा सके और यदि वह अपने मन की छोटी-छोटी कलहों से ऊपर उठ सके ।

आचार्य चन्द्रमोहन ने कहा कि शाक का परछाया नहीं है ? परनेस्वर वा परमात्मा कीज है ? और कोई नहीं । इस तर्जुमे के आशिकों के लिए, विविध शाकों के लिए, आत्मा का संशोधन करने बाकों के लिए अहिंसा ही परछाया है । अहिंसा ही परमात्मा है और अहिंसा ही परनेस्वर है ।

बलवान् बलवान् होता है, बलीय होता है और अनपिबल होता है । यदि अहिंसा बलवान् है, तो वह भी बलीय एवं अनपिबल है । कभी परिभाषा की चीज़ें-वे शब्दों में बांध बन्ना

अत्यन्त अठिन काय हैं। शब्द दुर्बल होते हैं, कमजोर होते हैं और अहिंसा व्यापक चीज है। इसलिए शब्दों में यह क्षमता नहीं है कि अहिंसा की संपूर्ण परिभाषा को वे अपने में बहान कर सकें।

आत्मा का सबसे बड़ा गुण ज्ञान है। यदि ज्ञान का प्रकाश हमारे जीवन में न हो, तो हम अंधेरे में भटक-भटक कर अपनी प्राणशक्ति खो बैठेंगे। लेकिन यदि हमारे पास ज्ञान का दीपक होगा तो इस मारे ससार में फैले हुए अन्ध-श्रद्धा के अन्धेरे को मिटाने में हम समर्थ हो सकेंगे। आज हमें किसी और चीज की जरूरत नहीं है। केवल ज्ञान का दीपक जला देने की जरूरत है। अन्तर में ज्ञान का दीपक जलते ही अन्धी मान्यताओं का अन्धकार, विना क्षाजत लिये नौ दों ग्यारह हो जायगा।

मानव या दानव



११

वास्तव में आज के मनुष्य के सामने सबसे बड़ा सवाल एक ही है कि उसे मानव बनना है या दानव? हालांकि यह सवाल बड़ा विचित्र लगता है, क्योंकि मानव मानव तो है ही, दानव होने का प्रश्न ही कहा उठता है? लेकिन फिर भी जब आज सभी विचारकों के सामने वह प्रश्न बड़े व्यापक रूप में उपस्थित हुआ है, तो उस पर हमें विचार करना ही होगा। मानव और दानव का भेद जाति से अथवा शरीर से नहीं, बल्कि वृत्तियों से, करना चाहिए। मानवीय वृत्तियाँ एवं दानवीय वृत्तियाँ ये दोनों समान रूप से वातावरण में कार्य करती रहती हैं। यदि हम दानवीय वृत्तियों को ग्रहण कर लेते हैं तो दानव बन जाते हैं और यदि हम मानवीय वृत्तियों को ग्रहण करते हैं तो मानव बन जाते हैं।

जबकि काफ़ से हथ देखते जाते हैं कि शाही मानवता के मार्ग की छोड़कर राजवटा के सुपन्न कर चटक जाता है। साथ इतिहास बताती है कि समुप्य ने राजवत्त बनकर इतनी भीमत्त्व हिंसा के मूल्य किने कि निरके बारे में सम्मता भी नहीं की जा सकती। उन्होंने विरीह प्राप्ति की के बल से कमीन को रंग दिया। फिर भी उसे अपने इस महात्त्व सम्पन्न की याद नहीं जाती कि मैं मानव हूँ मुझे अपने मार्ग में मानव बनना है।

यह संसार-मय बहुत बड़ा है। इस मय में भीषण अनेक मस्तिष्कों में अनेक विचित्रियों में और अनेक धोषियों के चटकता रहता है। यह भी एक बार नहीं सम्मत्त बार चटकता है। फिर भी यह यह निर्बल नहीं कर पाता कि मुझे मानव बनना है या राजवत्त ? क्योंकि निरु निरु दिन शाही के हृदय में वा मस्तिष्क में यह विचार जा पाता है कि मुझे राजवत्त नहीं बल्कि मानव बनना है, कभी दिन यह अहिंसा की ऊँची धूमिका पर जा बैठता है। फिर उसे लज्जा की चकानकता से चककर काटने की चकल्ल नहीं रहती। क्योंकि मानवता का अहिंसा के साथ पैदा ही संबंध है, पैदा सम्मत्ता का मन्त्र के साथ। बिना अहिंसा के मानवता जीवित नहीं रह सकती। जब मन में अहिंसा की कर्तव्य बनने लगती है तब का भीषण बहने लगता है, निरु दृष्टता की मानना मान बढ़ती है, तब तन्ने अनों में मानवता बनती है और अहिंसा का विचार रूप जीवन में अवतरित होता है। फिर चकल्ल भेदना के वर्धन होते हैं, फिर पुष्पन और वाद वाद बढ़े होते हैं, फिर मानव मुक्त की राह केता है, फिर आत्मा अनेक आने के विवरण करने लगती है।

सब समान हैं



भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए कहा कि हे शिष्यो, इस दुनिया में जितनी भी आत्माएँ हैं, उन सब में एक समान चेतना है। सभी आत्माएँ समान रूप से सुख चाहती हैं। इसलिए समस्त सृष्टि के प्राणियों को अपनी ही आत्मा के समान समझो। जिस काम से तुम्हारी आत्मा को कष्ट होता है, वह काम तुम दूसरों के प्रति भी मत करो। दूसरों से तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी करो। जिस दिन तुम्हें अपनी आत्मा में और दूसरे की आत्मा में कोई अन्तर नहीं मालूम होगा उसी दिन तुम्हारी अहिंसा की साधना सफल होगी, अन्यथा अहिंसा का नाम केवल आहम्बर मात्र रह जायेगा। भगवान् महावीर का यह उपदेश हमारी वर्तमान समाज-रचना के लिए अत्यंत उपादेय है। यह उपदेश केवल महावीर ने ही नहीं दिया। प्रकारान्तरसे अद्वैत के प्रतिपादक आचार्यों ने भी यही कहा कि इस संपूर्ण सृष्टि में एक ही चेतना है। यदि किसी काम से हमें दुख हो सकता है, तो उसी काम से दूसरों को भी दुख होगा। क्योंकि हमारी चेतना में और दूसरे की चेतना में कोई भेद नहीं है।

अहिंसा की यही कसौटी है। जिस दिन व्यक्ति अपने आप में जीने का अधिकार चाहेगा, उसी दिन वह दूसरे को भी जीने का अधिकार अवश्य देगा। यदि वह दूसरे को जीने का अधिकार नहीं देना चाहता तो उसे भी जीने का अधिकार नहीं मिलेगा।

कभी-कभी हम मोह-माया में आसक्त होकर ऐसा सोचने लगते हैं कि “मेरे लगी सो तो दिल में और दूसरों के लगी सो दीवार में”

बाजी चोट लगने पर बीछा कुछ मुठे होता है, बँछा दूधरों को नहीं होता। लेकिन वास्तव में ऐसा समझना मिहान्त अन्धपूर्ण है और आत्मविश्वास का परिचायक है।

एक बार बनवान् बहावीर के एक चित्र ने पूछा कि प्रभु, आपने हिंसा क्यों छोड़ी ? और अहिंसा के पथ पर क्यों जाये ? अनेक कष्ट और पीड़ाएं सहन करते हुए भी इस पुर्नम मार्ग के साथ क्यों चक रहे हैं ? तब बनवान् बहावीर के उत्तर देते हुए कहा कि प्रत्येक प्राणी के मन में अपने जीवन के प्रति आदर और आकर्षण है। हमी अपनी मुक्त-मुनिता के लिए सतत् प्रयत्नशील हैं। तब बनवा अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष हो रहा है। मरना बीछा में हूँ बैठे ही सब हैं ऐसा सोचकर मैंने हिंसा का त्याग किया है और दूधरों को कष्ट देना छोड़ा है। यदि स्वर्ग को बताना जाना पड़ना होता तो दूधरों को बताना न छोड़ते। यदि स्वर्ग को बताना पड़ना होता तो दूधरों को मारना भी न छोड़ते। लेकिन अब जीवन मुझ के लिए सरल है और कुछ ठे बचकाटे हैं। इसलिए अहिंसा को ही परम धर्म मानकर मैंने इसे स्वीकार किया है।

1

1

पाप और पुण्य

1

●

(इस प्रकार अहिंसा की सच्ची कमीटी अपनी ही आत्मा है) धर्म और अधर्म पुण्य और पाप और कुछ नहीं केवल अपनी आत्मा के सम्मान में अपने ही बुद्धिकोश के दो मित्र-निमित्र धर्म है निमित्र-निमित्र धर्म है। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम जिसे धर्म मानते हैं दूधरों को बचाने समझ बैठता है। हम जिसे पुण्य कहते हैं दूधरों को पाप कह देता है। लेकिन धर्म और अधर्म की पुण्य और पाप की भले और बुरे की

सबसे बड़ी कसौटी अपनी ही आत्मा है। उसी कसौटी पर हमें जीवन के प्रत्येक प्रश्न को कसना चाहिए। अनेक समाज हैं, उनकी अनेक समस्याएँ हैं, अनेक प्रश्न हैं, उनके अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं, उन सब सम्बन्धों की सुरक्षा और उन सब प्रश्नों का उचित समाधान पाने के लिए सबसे बड़ा सूत्र हमारी अपनी अनुभूति में निहित है। यदि कोई हमें मारता हो, गाली देता हो, धन छीनता हो, हमारी बहन-बेटियों के साथ अभद्र व्यवहार करता हो, उस समय हमारे मन की अनुभूति या क्षणक्षणा उठती हैं। हमारे सस्कार बगावत करने लगते हैं। हमारी भावनाओं में विद्रोह भर जाता है। तब हम सहसा कह उठते हैं कि यह कैसा अधर्मी और पापी है? अधर्म और पाप वही है जिससे किसी दूसरे को कष्ट पहुँचे, समाज में असम्यक्ता और अस-गतियाँ पैदा हों, अव्यवस्था और अनुशासन-हीनता को प्रथम मिले।

पाप और पुण्य की परिभाषा को ढूँढ़ने के लिए यदि हम हजार-हजार ग्रन्थों के हजार-हजार पृष्ठों को भी उलट देंगे, तब भी हमें उसकी परिभाषा नहीं मिलेगी। पोथियों को रगड़ने से या उनको सिर पर लादे रहने से कभी किसी प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। सबसे बड़ी चीज आत्म-मथन है, चिन्तन और मनन है। यदि हम अपने विवेक को जागृत करके बुद्धि की खिड़कियों को खोलकर के सोचने का, समझने का और ग्रहण करने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें कोई परेशानी नहीं होगी।

एक मुसलमान हिन्दू स्त्री के अपहरण में धर्म समझ लेता है। एक हिन्दू मुसलमान स्त्री को बेइज्जत करने में धर्म मान बैठता है। तो क्या इन दोनों के लिए ऐसा करना धर्म हो जायेगा? जब हमारी स्त्री के अपहरण से हमें दुःख होता है, तो हम दूसरे की स्त्री के अपहरण को धर्म कैसे कह सकते हैं?

केवल ऊँचे-ऊँचे आदमों की बलवान्मात्र में वास्तविक जीवन के अर्थ हल नहीं होते । आकाश में उड़ते रहने के बरती की समस्याओं का समाधान नहीं होना । इसे आकाश का वर्म नहीं चाहिए । हमें आकाश के आदर्श की भी परकल नहीं है । हम तो बरती के प्राणी हैं । बरती पर रहते हैं । इसलिए बरती के वर्म और बरती के आदर्शों को ही स्वीकार करते हैं । कभी-कभी कुछ लोग यह बैठते हैं कि यह ठाण ठहारा मिथ्या है स्वप्न है अमल्य है । किन्तु जब वे बार-बार दिन के बुचे हों और उनके सामने मिथ्याओं का बाक बा बाप्य तब वे जब मिथ्याओं को स्वप्न और मिथ्या मानते हैं वा वास्तविक ? यह एक ऐसा अर्थ है जो अल्प अज्ञा में बने एक बने हुए लोगों के विमान की भी अकबोर आलगा है । इसलिए मैं इन सब बलवान्मात्र प्रमाण अर्थिक अर्थों के विस्तार में जाना नहीं चाहता । मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि वर्म जीवन के समस्त बूझभूझ प्रसनों के सम्बन्ध रखता है । जीवन के अल्प वर्म को छोड़ें रहान नहीं है । वर्म नहीं है जो हमारे अल्प जीवन का निर्माण करता है ।

न मारना और बचाना



बहिष्ता के विस्तार में न मारने की बात और बचाने की बात बार-बार उठती है । कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी को न मारना ही बहिष्ता है । और कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि किसी मरते प्राणी को बचा देने काय के अर्थ बहिष्ता का पूरा काय मिक बाधना । पर वास्तव में दोनों बाने अलगूने हैं । एक व्यक्ति प्राण पर रहा है, उल्ल-उल्ल कर बाध के रहा है । निरीह और अशहान होकर बाणी की बाधना कर रहा है । उठ बचन यदि कोई बाधर ऐसा कहे कि मेरी बहिष्ता तुम्हें बचाने की दवावत नहीं देती । तुम्हें बचाना अर्थयम को

पोषण देना है। मेरी अहिंसा तो इतना ही कहती है कि मैं तुम्हें मारू नहीं। उसका यह कहना कितना मूर्खतापूर्ण लगेगा। वहाँ किसी को न मारने का प्रश्न ही कहा उठता है ? इस तरह से अहिंसा का उपहासास्पद स्वरूप प्रगट करने वाले अहिंसा के वास्तविक रहस्य से अनभिज्ञ हैं। वे नहीं जानते कि मानव जीवन में सेवा और करुणा का, सहानुभूति और दया का कितना बड़ा स्थान है। वह जीवन निकम्मा जीवन है जिस जीवन में इस तरह की दया के लिए स्थान न हो। इस सम्बन्ध में अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेकों व्याख्याएँ की जा सकती हैं। लम्बा-चौड़ा विश्लेषण भी किया जा सकता है। पर उतने विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। सबसे बड़ी और बहुत मोटी बात इतनी ही है कि न तो केवल किसी को बचाना मात्र ही अहिंसा है और न किसी को न मारना ही अहिंसा है, सदा निर्मल विवेक और विचार की आवश्यकता है। अहिंसा केवल बाहर में न मारना अथवा बचाना, इतना सा दिखावा नहीं है। बल्कि अहिंसा हृदय की वह सहज सहानुभूति है, करुणा है, सेवा है, दया है जो बरबस फूट पड़ती है। प्राणिमात्र को बिना किसी भेदभाव के अपने संरक्षण में ले लेती है। इसके अतिरिक्त अहिंसा की वे सब परिभाषाएँ निकम्मी हैं जो हमें तर्क-वितर्क में उलझाती हैं, शास्त्रार्थ और वितर्कावाद के लिए प्रेरित करती हैं, साथ ही जीवन के मूलभूत प्रश्नों से दूर रखकर ग्रन्थों के शृष्क और नीरस प्रमाणों में उलझाती हैं। जो अहिंसा आत्मा की चीज है, उस अहिंसा को यदि हम ग्रन्थों में, किताबों में, पोथियों में ढूँढने की कोशिश करेंगे, तो वह कहा से मिलेगी।

जीये कैसे ?



पोलम ने महावीर से पूछा कि हे भगवन्, यह जीवन वास्तव्य है ।
 बाला-पीडा बछ्छा-बैछ्छा बल्लमा-बोल्लमा सब जहों पाप ही पाप है ।
 इसलिये आप देता रास्ता बताइए कि जिससे हम पापमुक्त होकर
 भी रहें । उस भगवान् महावीर ने बहुत ही सीधा लेकिन बहुत ही
 महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया । उन्होंने कहा कि न बल्लमा पाप है न बाला
 पाप है, न बोल्लमा पाप है, न बोल्लमा पाप है, बसतें कि मूख विवेक के
 साथ साथी विवेक के साथ रहो विवेक के साथ सोचो और विवेक
 के साथ रहो । जीवन के ये बाहरी मार्ग न पाप हैं न पुण्य हैं ।
जबने बड़ा पाप है अनिवेक-अवज्ञा । यदि विवेक के साथ साथी बचना
 के साथ जीवन बीते ही तो वह जीवन संसार के लिए, जन्म के लिए
 और मुम्हारे अपने लिए सुखदायक होना ।

महावीर के कहने का आशय केवल इतना ही था कि जब और
 महिला की कन्नी कत्तीही विवेक ही है । वहाँ विवेक है, वहाँ महिला
 है और वहाँ विवेक वही है वहाँ महिला भी वही है ।



हिंसा के दो प्रकार



अहिंसा को समझने से पहले हिंसा को समझ लेना अनिवार्य है। आखिर हिंसा क्या है, वह कैसे होती है, उसके लिए किन परिस्थितियों में मनुष्य मजबूर होता है, इत्यादि प्रश्नों पर हम विचार करें।

अहिंसा का साधारणतया अर्थ है—हिंसा का न होना। इस प्रकार शब्द शास्त्र की दृष्टि से अहिंसा, हिंसा का एक नकारात्मक भाव है। इसलिए हम अहिंसा के अन्दर रहे हुए, हिंसा शब्द की व्याख्या को पहले समझ लें। जैन विचारकों ने हिंसा के दो रूप बताये हैं। एक भाव हिंसा और दूसरी द्रव्य हिंसा। इन दोनों भेदों पर जब हम गहराई से विचार करते हैं, तो हमें ऐसा जान पड़ता है कि उन विचारकों ने ससार के सामने जीवन, सृष्टि और उसकी विभिन्न घटनाओं को बड़े अच्छे ढंग से, व्यक्त कर दिया है।

भाव-हिंसा का अर्थ है मानसिक हिंसा। ऐसी हिंसा, जिसमें सम्भवतः किसी प्राणी की हत्या न हो, कोई जीव न मरे, किसी को हम कष्ट भी न दे पायें, फिर भी हमारी आत्मा अन्दर से हिंसा के सकल्प से ग्रसित हो जाय, ऐसी हिंसा को भाव-हिंसा कहा गया है।

यह हिंसा ही मानव आत्मा को सर्वाधिक कलुषित करने वाली हिंसा है। जब मन में किसी के प्रति द्वेष जगता है, या मिथ्या सकल्प-

विचलन पैदा होते हैं, या जोरी व्यवहार आदि दुष्कर्म करने के साथ पैदा होते हैं, तब हमारी आत्मा शाक-हिंसा से व्यापकित हो जाती है।

बैसा कि हमने ऊपर बताया — शाक हिंसा के निम्नी दुष्टों का नहीं बल्कि स्वयं अपना ही नाश होता है। जब हमें जोश आता है तो दुष्टों का कोई भ्रूणस्थान बने ही हो या न हो, लेकिन हमारे मन में एक तरह की आग बल जाती है, अतिरिक्त बलने लगता है, विचार बलित हो जाते हैं। यही तब-से-बड़ी हत्या है जो दुष्टों को नहीं बल्कि स्वयं को कष्ट देती है।

हिंसा पराक्रम वृत्ति एवं शक्ति से हमारे समाज में और संघर्ष बीच-बच्चे में एक प्रभार की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। जब हम अपने विचारों का संतुलन खो बैठते हैं और दुष्टों बीबी को भी बीबी का व्यवहार है, वह कुछ जाते हैं, तब हम स्वार्थी बनकर, कुछ छोड़कर बनकर दुष्टों के जीवन को हकाने के लिए तत्पर हो बैठते हैं। तब तभी हम हिंसा के कल्पनों में बंध जाते हैं।

आपसी बाहर संघर्ष करना है, लड़ाई करना है, हमारे संबंधों को परावृत्त भी कर देना है, साथों बीबी के साथों का अपहरण भी कर देना है, फिर भी वह विजयी नहीं बहना लगता। शास्त्रकारों विचारकों और चिंतकों की वृत्ति में वह तभी विजयी हो लगता है जब वह अपनी आत्मा के साथ संघर्ष करे, अपनी आत्मा को निज सर्वसामयिक अनुभवों में घेर रखा है, उनकी परावृत्ति करे। ये ऐसे अनुभवों हैं जो सब छोटी बगलों के विचारों नहीं होते। हालांकि ये अनुभवों से अधिक अवलोकन और व्यक्त होते हैं। बाहरी अनुभवों का ज्ञान ज्ञेय है, लेकिन ये आधुनिक अनुभवों के अनुभवों को लक्ष्य कर देते हैं। यद्यपि यद्यपि महावीर ने बार-बार यह कहा है कि बाहर के अनुभवों से नहीं बल्कि अन्दर के अनुभवों से कुछ करो और जब कुछ में विजयी बनो।

द्रव्यहिंसा



केवल द्रव्यहिंसा क्या है ? व्यक्ति अन्दर में स्वच्छ है, निर्मल है, निर्वैर है। किसी को कुछ भी कष्ट नहीं देना चाहता, अपितु सबका सरक्षण ही चाहता है, फिर भी जीवन के विविध प्रवृत्ति-चक्रों में यदि किसी प्राणी का हनन हो जाए, तो वह द्रव्य हिंसा है। द्रव्य का अर्थ स्थूल है। अर्थात् इस प्रकार की हिंसा केवल कहने मात्र की हिंसा है, वास्तविक हिंसा नहीं।

किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना मात्र ही अपने आप में हिंसा नहीं है, अपितु क्रोध भाव से, मोह भाव से, माया भाव से या लोभ-भाव से किसी जीव के प्राणों को नष्ट करने की दुर्वृत्ति ही हिंसा है। जैन विचारकों ने कहा है कि “प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा” (—तत्त्वार्थ सूत्र ७-१३) याने प्रमादवश किसी के प्राणों का अपहरण ही हिंसा है। उक्त कथन का अर्थ इतना ही है कि हिंसा का मूल आधार कषाय भाव है। बाहर में किसी की हिंसा हो या न भी हो, किन्तु अन्दर में कषाय-भाव है, राग द्वेष है, तो वह हिंसा है। इसके विपरीत जो साधक कषाय-भाव में न हो, प्रमाद अवस्था में न हो, फिर भी यदि उससे किसी के प्राणों की हिंसा हो जाय तो वह द्रव्य हिंसा है, भाव हिंसा नहीं। ऐसी हिंसा बाहर में प्राण-नाशक होते हुए भी हिंसा नहीं मानी जाती। वीतराग आत्माओं की यही स्थिति है। क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं, इसलिए समस्त प्रकार की हिंसाओं से भी मुक्त हैं। उनके शारीरिक हलन-चलन से जो हिंसा होती है, वह पापमूलक भाव-हिंसा नहीं कही जाती। वीतराग पथ का यात्री अप्रमत्त साधक भी जितने अंश में राग-द्वेष से अप्रभावित रहता है, उतने अंश में वह वा हिंसा होने पर भी पाप का भागी नहीं होता।

एक साधु विवेकपूर्वक भिन्ना के लिए जाता है वा कोई गृहस्थ विवेकपूर्वक भग्न भिन्ना करता है। वह समस्त उसके अन्तर्ग मे किसी भी जीव को मारने की भावना नहीं है, फिर भी यदि अनजान में कोई जीव मर जाने है तो नहीं कहा जायेगा कि उसने बीबी को मारा नहीं किन्तु वे जीव स्वयं मर पड़े। इस प्रकार के बीबी के मरने में पाप-बंध नहीं होता। नहीं बात भावार्थ यहवाहू ने भी नहीं है। एन्होंने कहा है कि अपने भिन्नों के साथ यदि कोई साधक विवेक-पूर्वक भग्न के लिए पाप उठाने फिर भी अचानक परि कोई जीव उसके नीचे आकर मर जाय तो उस साधक को उस जीव के मरने के कोई पाप नहीं होना क्योंकि साधक की भावना पूर्वतया निर्मल है और वह पूर्वतया अपने भिन्नों में धरप है। बीसे भग्न का कुछ बीषक में बीसा होता है। बीषक में ही बढ़ता है और बीषक में ही रहता है, फिर भी वह स्वयं बीषक के सर्वथा निरिप्य रहता है। बीसे ही अपने भिन्नो और मशीनशीलों के भावकक साधक बीषाधुक्त उत्तार में विभरण करत हुए भी पाप के तिप्य नहीं होता। क्योंकि उसके अन्त करण के कर्मका का अर्थात् लोभ रहता रहता है।

हिंसा के से भी बी रूप बताये गये हैं वे बहुत सीसे हैं और बहुत बन्ध हैं। बुद्ध उक्त नहीं है कि साधक को पाप हिंसा के बन्ध-बंधन बन्ध रहना चाहिए और यदि भाव-हिंसा से हमारा कृतकार हो जाता है तो उक्त हिंसा के लिए कोई साध परेसावी की बात नहीं रहेगी।

वह उपूर्व अथवा एक प्रकार से हिंसात्मक ही है। पारों और के वातावरण में हने ऐसा विचारा है कि एक जीव दूसरे जीव को भिन्न जाने के लिए प्रयत्नशील है। बड़ा छोटे पर हावी होता रहता है। बलवादी निर्मल की रबीय भावना बाह्य है। "बीबी बीकल्प बीषमन्" ऐसा कहा भी जाता है। इस राधनीतिक और भाविक

जीवन में भी यही देखते हैं। बड़ा राष्ट्र छोटे राष्ट्र पर कब्जा करना चाहता है। धनवान् व्यक्ति गरीबों का शोषण कर के धनवान् बने रहने को कृत मकल्प है। ऐसी बीहड़ परिस्थिति है। इस परिस्थिति में से हम अपने आपको बचाना है। केवल अपने आपको ही नहीं, आसपास के समाज को भी बचाना है। यदि हम यह मान लें कि सारी दुनिया में भले ही हिंसा होती रहे, हमें उससे कोई मतलब नहीं, तो यह एकांगी चिंतन ही माना जायेगा। सर्वांगीण दृष्टि से सोचा जाय तो व्यक्ति अकेला नहीं है। वह सामाजिक प्राणी है। इसलिए समाज में चलने वाली हिंसा के प्रति वह भी उत्तरदायी है। इस सदर्भ में हर व्यक्ति को ऐसी कोशिश करनी चाहिए कि समाज में फैली हुई हिंसा रुके तथा अहिंसा का प्रचार हो। केवल वैयक्तिक अहिंसा या वैयक्तिक साधना से पूरा समाज नहीं सुधरेगा। वैसी साधना का अब युग भी नहीं है। जब तक समाज में हिंसा फैली हुई है, जब तक समाज में पाप फैला हुआ है, भ्रष्टाचार और अन्याय बढा हुआ है, तब तक हम हिंसा से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित न होते हुए भी यदि उस ओर उपेक्षा रखते हैं, तो उस हिंसा के प्रति जिम्मेदार हैं। 'यह प्रत्यक्ष जिम्मेदारी हमें महसूस करनी चाहिए। क्योंकि' यदि हम उस जिम्मेदारी से बचेंगे, तो समाज के प्रति हमारा जो कर्तव्य है, उसे भूल जायेंगे। यदि उस सामाजिक जिम्मेदारी के प्रति हम उदासीनता बरतेंगे, तो हमारा दृष्टिकोण अत्यन्त सकुचित हो जायगा। इन सारी बातों को सोचते हुए और यह समझते हुए कि समाज से हमें बहुत कुछ मिला है, इसलिए समाज की सेवा करना भी हमारा धर्म है, हमें समाज में फैली हुई हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

समग्र-साधना



अहिंसा को जब हम जीवन में उतारने के लिए चले हैं तो हमारे सामने तीन प्रकार काटे हैं। अर्थात् मन से बचन से और शरीर से अहिंसा की साधना होनी चाहिए। यदि अहिंसा को सर्वांगीण रूप से सिद्ध करना है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिंसा में बचना है तो अहिंसा की मन बचन और शरीर से साधना होना।

शरीर पर विचित्रता रखने के शरीर के द्वारा होने वाले बात एक बातें हैं। इसी तरह बचन और मन पर संकुच बना देने से बचन और मन के रूप भी एक बातें हैं। जब हम आत्मा की से वह समझ पकड़े हैं कि कर्म-आत्म की से दूर रहने के लिए हमें तीनों ही द्वार बन्द करने होते हैं। मन बचन और शरीर, वे तीनों हिंसा और अहिंसा की वायात-भूमिकाएँ हैं।

एक-एक क्षेत्र के भी तीन-तीन उपनेत्र होते हैं। जैसे शरीर से हिंसा करना हिंसा करवाना और हिंसा करने वाले का समर्पण करना। इसी तरह बचन से और मन से भी करवा, करवाना और समर्पण करना। जब प्रश्न उठ सकता है कि वाक्पित्री को पाप बन्धन होते हैं, वे स्वयं हिंसा करने से बचावा होते हैं या करवाने से या समर्पण करने से? प्रायः सर्वसाधारण हिंसा के स्वयं करने से ही बचावा पाव मानते हैं। परन्तु वह एकान्त सत्य नहीं है। कभी-कभी स्वयं हिंसा करने से जल्दा पाव नहीं होता विवशता करवाने से ही बचाव है। इसलिए हिंसा के मन और करवा होने का कोई एक स्पष्ट समीचीन बचवा

मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। हमने पहले इस बात को काफी स्पष्ट कर दिया कि हिंसा और अहिंसा का अथवा पाप और धर्म का माप-दण्ड विवेक है। किसी भी तरह का बाह्य क्रिया-कर्म नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम खुद तो सब प्रकार की हिंसाओं, पापों और असत् कार्यों से अपने आपको निवृत्त कर लेते हैं, परन्तु दूसरो से वही काम निर्दयतापूर्वक करवाते रहते हैं। फिर मन में ऐसा समझ लेते हैं कि हमने तो कुछ किया ही नहीं। और जब हमने कुछ किया ही नहीं, तो हमें पाप कैसे लगेगा? जिसने प्रत्यक्ष रूप से पाप किया है, उसी को पाप लगना चाहिए। इस तरह से हम अपने मन को भुलावें में डाल लेते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि अगर हमारे निमित्त से, हमारी आज्ञा से हमारे किसी भी प्रत्यक्ष या परोक्ष सकेत से कोई भी पाप होता है, तो उसमें हमारा भी पूरा उत्तर-दायित्व है।

अगर हम अपनी ओर से किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष थोड़ा भी कष्ट देते हैं, तो उसमें हिंसा तो होगी ही। यहां तक कि अगर एक मजदूर भार लेकर चल रहा है और एक-एक कदम बोझ से लदा चला आ रहा है, वह हाफ रहा है, पसीने से लथपथ है, तो उसे रास्ते से हटने के लिए भी नहीं कहना चाहिए। चाहे कोई राजा हो, या साधु-सन्त हो, उस मजदूर के लिए सबको हट जाना चाहिए। रास्ता दे देना चाहिए। सभ्यता और सस्कृति की आत्मा को समझने वाला हर व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं करेगा। यदि बच्चे को रास्ता देना हो, तो भी सबसे पहले देना चाहिए। यदि किसी बूढ़े को रास्ता देना हो तो भी सबसे पहले देना चाहिए। फिर किसी स्त्री को रास्ता देना हो तो उसे भी प्राथमिकता देनी चाहिए। यथा प्रसंग किसी साधु, सन्त एवं अतिथि आदि को रास्ता देना हो तो उसे भी प्राथमिकता देनी चाहिए। और इन सब में भी यदि किसी श्रमिक को

उत्पाद देना हो तो सर्वप्रथम अधिक को आराधना करनेवा को लक्ष्य में रखते हुए उसे आनमिलता देनी चाहिए ।

प्रवृत्ति-निवृत्ति



प्रवृत्ति और निवृत्ति के जीवन के दो मुख्य धर्म हैं । कोई भी व्यक्ति जब धर्म और अधर्म के बारे में सोचता है तब उसके सामने प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रत्यक्ष चिह्न के रूप में सामने आकर खड़ी हो जाती है । कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि प्रवृत्ति करना धर्म है और कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि पुनर्जात निवृत्ति ही धर्म है । किन्तु हमें सोचना चाहिए कि वे दोनों विचार एक ही हैं । मुख्यतः मानव जाति जिस प्राणी होने के नाते प्रवृत्ति-निराकरण होता है । वह समाज की किसी भी प्रवृत्ति से बंध नहीं मोड़ सकता । मोक्ष धर्म ईश्वर इत्यादि की केवल एक ही बातें करके अपने आपको प्रवृत्ति से मुक्त कर केना बुझिमाणी नहीं है । धर्म ईश्वर और समाज की बातें वैयक्तिक जीवन में अपना अनुकूलन स्थापित करती हैं, लेकिन समाज भी समाज के साथ घुल संबंध है । जो धर्म को समाज और जो संस्कृति जीवन और समाज से संबंधित नहीं है वह धर्म समाज और संस्कृति धर्म की नींव स्थापित हो जाती है । धर्म का अर्थ ही समाज को धारण करना है । 'यस्मात् धर्मोऽस्मात्' । जो धर्म समाज को धारण नहीं करता समाज की निमोह एवं अस्मद्वय लक्षण प्रवृत्तियों से बंध नहीं रहता है समाज के विनाश की दिशा में अपने आप को मोड़ता नहीं है वह धर्म अपने अर्थ के दूर बटक जाता है । इसलिये प्रवृत्ति से बचता नहीं चाहिए । कुछ लोग ऐसा समझ बैठते हैं कि हमने तो संसार त्याग दिया है समाज छोड़ दिया है घर-परिवार छोड़ दिया है, फिर हमें सामाजिक कानों से क्या

मतलब ? लेकिन उनकी यह धारणा गलत और भ्रमपूर्ण है। जो साधु समाज से मुह मोड़ लेता है, समाज के प्रश्नों को हल नहीं करता, समाज की समस्याओं के बारे में सोचता नहीं, उस साधु को इस समाज में रहने का अधिकार कैसे दिया जा सकता है ? फिर तो उसे पहाड़ों में जाकर एकान्त समाधि लगानी चाहिए। जब हम समाज से अन्न लेते हैं, समाज से कपड़ा लेते हैं, समाज से मकान लेते हैं, समाज से सुरक्षा लेते हैं, तब हमें समाज की यथोचित सेवा भी करनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से देखने पर हम यह अच्छी तरह से समझ जायेंगे कि अहिंसा केवल नकारात्मक या निवृत्तिपरायण नहीं है। उसका विधायक पहलू भी है और प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण भी है।

इस पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट हो जाता है कि करने में ज्यादा पाप हैं या करवाने में अथवा अनुमोदन में ज्यादा पाप हैं। जैनधर्म तो अनेकातवाद का प्रतिपादक धर्म है। हर समस्या को अनेकात की दृष्टि से हल करना चाहिए। यदि हमारा विचार सुस्थिर है, विवेक अभीष्ट लक्ष्य-विदु में केंद्रित है तो किसी कार्य को स्वयं करना अथवा दूसरों से करवाना दोनों ही प्रकार के मार्ग निश्चित रूप से ठीक होंगे। विवेक के द्वारा ही पापों के प्रवाह से बचा जा सकता है। जहां अविवेक का बाहुल्य है, अज्ञान है, आग्रह है, वहां पाप के अधिकाधिक - मार्ग खुले हुए हैं।

भोजन बनाने के ही प्रश्न को ले लीजिये। यदि बी० ए० और एम० ए० पढी हुई ऐसी लड़की को, जो भोजन बनाना नहीं जानती, उसे ई घर में बैठा दिया जाये तो वह न जाने कितनी अव्यवस्था पैदा कर देगी। ऐसी स्थिति में उस भोजन से घर के वातावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तब आपको यही कहना होगा कि यदि हमने स्वयं भोजन बनाया होता तो शायद यह अव्यवस्था और असंगति

रिवाज नहीं है। इस तरह यदि कोई कुछ स्वयं भिक्षा के लिए जाने के बरके किसी अपने गरीब-दिले धिम्मे को भिक्षार्थ भेज देता है तो कसते भी कई तरह की अंतर्मनसियाँ पैदा हो जाती हैं। क्योंकि जब धिम्मे को यह पता चले होता कि कहाँ से भिक्षा की और किस चीज की आवश्यकता है। जिस पर ये भिक्षा ले रहा हो वहाँ कुँड़ों और बकरीयों के लिए कुछ बच रहा है या नहीं? उसे अन्य प्राणियों की हिता का भी कोई ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार के प्रसंगों पर दूसरे के काम करवाने की अपेक्षा स्वयं करना ही अधिक अच्छा होता है।

तीसरा प्रसंग है हिंसा के समर्थन का। कभी-कभी न तो व्यक्ति स्वयं हिंसा करता है और न किसी से करवाता है। वह केवल करनेवालों की छानना करता है। कहीं कड़ाई हुई, लोगों के चिर कुटे तमाखड़ीय शब्दों के धिरे पर बड़ा होकर सब कड़ाई का ज्वार फैला जाता है और कहता है बाह! बाह बिना पीते के पीता यदि या तमाखा देखने की भिक्षा है। बड़ा मजा मजा। बहुत अच्छा हुआ कि कड़का चिर नृत्य और कतली हर्दिकों का कच्चा-मर भिन्न नया। ऐसा कहकर कड़ाई का समर्थन करने वाला और कड़ाई की शारीर करने वाला जिसने पापों के बंध बाँटा है वह कमला की पीप है। लहने वालों के रिवाज में न जाने क्या बावना की। अपनी भावनाओं का वेग न जाने जिसका तीव्र या मन्द या केवल तीव्र बर्तक ने तो बिना किसी मरकज के स्पर्श ही अपने मन की कम्पुधित कर डाला। इस तरह बाहिर है कि कभी-कभी हिंसा करने और करवाने के भी कड़का समर्थन करने में अधिक गप हो जाता है।

एक कथाहृदय और बिना बाह। छिड़कर चिर-बुद्ध की मरकज ज्वाला में तुहार की लौक देवे वाला बाधक वाला जाता है। परन्तु बीबा कि क्या जाता है, उठने बुद्ध व बरन ह्रास से एक भी पीपी

नही चलायी और एक भी सैनिक का अपने हाथ से खून नहीं किया। वह फौजों को लड़ाता रहा, लेकिन स्वयं मैदान में नहीं आया। तो क्या यह माना जाय कि प्रत्यक्ष रूप से मैदान में लड़ने वाले सिपाहियों के वजाय हिटलर को हिंसा का पाप कम हुआ? वह कह सकता था कि मैं तो अहिंसक हूँ। मैंने लड़ाई नहीं लड़ी। मैंने एक चाकू भी नहीं चलाया। मैंने खून की एक बूंद भी नहीं बहायी। लेकिन उसका यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता। क्योंकि उसके एक इशारे पर गाव के गाव नष्ट हो गये। शहर के शहर तबाह हो गये। सारे विश्व में अशान्ति की आग भड़क उठी। इन सब बातों पर जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंसा और तज्जन्य पाप की न्यूनाधिकता भावना पर और विवेक शक्ति पर आधारित है, उसका कोई बाहरी माप-दण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता।

जो साधक, पूर्ण अहिंसा की साधना करना चाहते हैं, उन्हें तो तीनो प्रकार से हिंसा पर रोक लगानी चाहिए। हमें इस चक्कर में पड़ने की जरूरत नहीं कि कौन-सा प्रकार ज्यादा हिंसादायी है और कौन-सा प्रकार कम हिंसादायी है। हिंसा, हिंसा ही है। इसलिए हर हालत में तीनों प्रकार से उससे बचने की जरूरत है।

आज समाज की जो परिस्थिति है, उसे देखते हुए अहिंसा को स्वीकार करना अनिवार्य हो गया है। यदि दुनिया अहिंसा को मानकर नहीं चलेगी, तो वह बच नहीं सकेगी। या तो सर्वनाश का मार्ग है या अहिंसा का मार्ग है। क्योंकि विज्ञान ने हिंसा के रूप को बहुत भयंकर बना दिया है। आज पहले जैसे छोटे-मोटे झगड़े को यो ही नहीं चलने दिया जा सकता। छोटे-छोटे दो राष्ट्र आपस में लड़कर एक को हराकर दूसरे पर विजय पाकर आनन्द से शासन करने लगें, ऐसा आज के वैज्ञानिक युग में सम्भव नहीं है। दो छोटे राष्ट्रों की

कड़ाई भी बाध निब-मुड का कद बारन कर केटी है । कत फिल
मुड मे की ठकवार से बन्नुक से या तीर-कवाल के कड़ाई नहीं
होयी । बाध की कड़ाई तो बन्नीमनों से वा बन्नु-बन्नी से होयी
है । हिरीयमा पर बन्नुबम पिछ बाबादाकी पर बन्नुबम पिछ ठो
नहीं बन्ने बूडे बीमार, अपाहिष बिबायी स्त्रियां सब के सब
बन्नु हो गये । बन्नुबम के पल्ल देसा बिबेक करने की कलित नहीं
है कि बीन बैरा कुरवान है बीर बीन निरबराब । ऐसी निकट परि-
स्थिति के बरि हन अहिंसा को स्वीकार कर के नहीं बर्बने तो कोई
बाध नहीं है ।

बाध दुनिया के बितने बड़े-बड़े राजबीरिह है, के एक स्वर से
बहु बन्नु करेते है कि मुड नहीं होना चाहिए । बाध की ठक-
स्वानी का हक मेन से ठकबोले के बाधबीर के होना चाहिए । बरि
हम बर्बे तो बबाध कम बिबाल कुभित्त हो बायेना । ब्रबति एक
बायेनी । बिबाल संस्कृति सम्बरा बीर बिबाल भन्नु हो बायेनी ।
मायबरा अपाहिष हो बायेनी । बाभ्यात्मिकता बन्नु हो बायेनी ।
बाध ठपार एक स्नबाध बन बायेना । मुड की ऐसी बयानकता
पूके के मुडो में नहीं होयी बी । केकिन हत बढी हुए बिबाल के
हिता बीर मुड के कद की बर्बकर बनावर अहिंसा की बनिबायेता
की सिद्ध कर बिना । अहिंसा के हक में बहु बढु हो बन्ना हुना है ।
बद बाध अहिंसा को स्वीकार करने के किए बाबाबित्त हो बन्ना
है । बाध बितने राजबीरिह एक बत होकर अहिंसा की पुकार कर
रहे है, कतने राजबीरिह किडी की मुड में सम्बरा अहिंसा की पुकार
करने बाके नहीं मे । बिबाल के दूर-दूर बते हुए राजकी को नबबीक
बाबा है । बाध बढु पार रूने बाके मनुष्यों को एक दूधरे से
सम्बन्धित कर बिना है । अमेरिका में रू बाबपिनी को हन हिनुस्ताम
के बीडे हुए एक बकते है, पबके बाबन कुन सकते है, बन्ने बाध
कर कपते है । बहु बबा, बरिहाध बन रूना है, बबा मुन बन रूना है ।

अहिंसा के दो रूप

किसी जीव पर अनुकम्पा करना, दया करना या अनुग्रह करना अहिंसा है, इस प्रश्न पर किसी का कोई मतभेद नहीं हो सकता। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निग्रह में यानी पापी को या अपराधी को दण्ड देने में अहिंसा है या हिंसा ? यहाँ इसी गम्भीर प्रश्न पर हमें विचार करना है। आमतौर पर यह माना जाता है कि दण्ड में अहिंसा नहीं है, क्योंकि जिसे दण्ड दिया जाता है उसे स्वभाव-तया कष्ट होता है और जब कष्ट होता है, तो वह अहिंसा कैसे हो सकती है ? यह सहज प्रश्न सामने आता है। परन्तु धार्मिक शासन-व्यवहार में ही हम देखते हैं कि सध में आचार्य का बड़ा महत्त्व है। आचार्य और गुरु अपने शिष्यों पर अनुशासन चलाते हैं, उनका निग्रह करते हैं और अपराध करने पर उन्हें दण्डित भी करते हैं। यदि जैनधर्म के अनुसार अनुग्रह ही अहिंसा है और निग्रह अहिंसा नहीं तो आचार्य के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए, क्योंकि जैन धर्म में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है। जब हिंसा के लिए स्थान नहीं है, तो हिंसा-स्वरूप दण्ड के लिए भी कोई स्थान नहीं होना चाहिए। और इसलिए दण्ड का विधान करने वाले आचार्य के लिए भी स्थान नहीं होना चाहिए।

आचार्य, सध का नेतृत्व करता है। वह देखता रहता है कि कौन क्या कर रहा है और किस विधि से कर रहा है। कौन साधक किस रास्ते से जा रहा है। सब ठीक-ठीक चल रहे हैं या कोई पथ से विचलित भी हो रहा है ? जब साधक अपने रास्ते पर चलता है, तब उसे आचार्य से अनुग्रह मिलता है, किन्तु यदि कोई साधक अपनी

माधवा के कार्य के अष्ट होता है। तो आचार्य उसको संविष्ट बना है और उन पर अनुशासन कहा जाये है। आचार्य का यह कठोर निबद्ध, अनुबद्ध से किसी भी अर्थ में कम नृत्पथान नहीं है। अनुबद्ध के समान निबद्ध भी बर्ध ही है। बर्ध नहीं।

आचार-सहिता के अनुसार साधु का यह वर्तव्य ब्रह्मकाया क्या है कि कदाचिन् साधु नर्वाद्य में बाहर बना बाध या नसती कर बैठे तो बने बर्धने को उत्पन्न सम्राट लेना चाहिए और स्वयं ही आचार्य को अपने बीच का कार्य को सुचना के ऐसी चाहिए। चाहे अनुबद्ध किन्ना हो माधवान नजों न रहे, किन्तु अब तक यह आध्यात्मिक साधना में क्या हुआ है। अब तक उसने किसी-न-किसी छोटी-मोटी ब्रुल का हो जामा स्थापना है।

आगुति

★

ब्रह्मसाधु महावीर ने कहा है कि 'अदेक एव ब्रह्म' यही। आगुति ही जीवन है। जो लोटा है। जो खोटा है। जो बाधता है, जो बला है। साधु ब्रह्म बना के तो क्या विद्याभ्यास में भी ब्रह्म रहे। अब बनेला हो सब भी ब्रह्म रहे, अब सब के बीच में हो सब भी बाधता रहे। मगर ने ही या ब्रह्म में ही यह सर्वत्र ब्रह्म अर्थात् के कभी बाधना हीकर रहे, वर्यो के अपनी आत्मा को बचाता रहे ब्रह्म में अपने जीवन को दूर रखे यही कभी कभी बाधना है।

ब्रह्म ही फिर ने उनी मौलिक ब्रह्म पर विचार करते है कि ब्रह्म के ब्रह्म साध भी यदि कभी ब्रह्मरूप को ब्रह्म मोड़ बहरी या बाध और अपनी बहरी या बाध कि यह ब्रह्म की बाध के कद न बने तो आचार्य या ब्रह्म क्या वर्तव्य है ? ब्रह्म

जब गदा हो कर आता है, तो माता उसे स्नान कराती है, उसके वस्त्र साफ करती है। परन्तु ऐसा करते समय वच्चा चिल्लाता है, रोता है, हल्ला मचाना है, क्योंकि ठड़े-ठड़े पानी से उसे तकलीफ होती है। परन्तु जो कुछ भी किया जा रहा है, उसके सबब में माता के हृदय से पूछिये कि उसके मानस में वात्सल्य की भावना है या बस वच्चे को कण्ट देने की भावना है? निश्चय ही उसके हृदय में वात्सल्य, प्रेम और अनुराग की भावना तरंगित होती रहती है। इसी प्रकार आचार्य का रथान भी माता-पिता के समान है। जब वह अपने शिष्यों को दंडित करता है या उन्हें कड़े शब्दों में उपदेश देता है या उनको दोषों से मुक्त होने के लिए कठिन तपस्या में झोंकता है, तब उसके अन्तर हृदय में उस शिष्य के विकास की और उसके कल्याण की कोमल प्रेरणा काम करती रहती है। गुरु चाहता है कि मेरा शिष्य सबथा निर्दोष होकर अपनी आत्मा को मोह-माया के बधनों से मुक्त करे। वह कभी भी साधना के मार्ग से विचलित न हो। वह अपने जीवन-मघर्ष में कभी भी असफल न रहे। इस ऊँची भावना से ही आचार्य अपने शिष्यों का निग्रह करते हैं। कठोरता में भी कृपा का स्रोत बहता रहता है।

इस पृष्ठभूमि में सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुग्रह की तरह ही निग्रह भी अहिंसा का ही एक रूप है। यदि केवल अनुग्रह और कृपा ही अहिंसा का रूप होता, तो मानव मन की जो अवोधावस्था है, वह कभी भी दूर नहीं होती। चोर को चोरी छोड़ने के लिए कहा जाय तो उसके मन में दुःख होता है, शराबी को शराब छोड़ने के लिए कहा जाय तो उसका हृदय भी परेशान हो उठता है। तब क्या गुरु का यह कनव्य है कि वह चोर को और अधिक चोरी करने के लिए प्रोत्साहित करें? शराबी को और अधिक शराब पीने के लिए सहारा दें?

आत्मरक्षण



एक प्रश्न और बिठान के लिए यहाँ उपस्थित कर देता हूँ : एक ऐसा व्यक्ति जो पूर्वतः अहिंसा की शायना करना चाहता है लेकिन वह अहिंसा वा शायक होने के साथ-साथ सम्भाविकाएँ भी है और उसके सामने किसी बाहरी आक्रमण का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके चेहरे पर कोई आभासायी विरोधी आक्रमण कर बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति में वह अहिंसक राया क्या करना करे ? आक्रमण-कारी शत्रु के साथ चकरा जा रहा है। आक्रमण के रूप में वह देश को लूटता है और प्रजा को पीड़ित करता है। संस्कृति और सम्पत्ति को लूट करता है। जो-बाहनों की हत्या करता है और तारे जीवन की लूट-बाह्य करता है। वह अहिंसक राया जिसके कानों पर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, क्या करे ? उसका वह स्वयं क्या कर्तव्य होना चाहिए ? वह राष्ट्र की सुरक्षा के लिए वह आक्रमण का मुकाबला करे या नहीं ? एक तरफ उसे आक्रमण करने वाली शक्ति के साथ जीवनस्य मुह करना पड़ता है और दूसरी तरफ स्वदेश की आत्मा निरीह बचता की आत्मरक्षण के चरमों के आत्म-आक्रमण करना पड़ता है, सम्मान के सामने फिर मुकामा पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में क्या व करना अहिंसा है ? क्या वह असंभव नहीं है ? बुद्धिजीवी और वर्तुलकता वा प्रभाव नहीं है ? जिस प्रकार स्वयं सम्मान करना चाहिए उसी प्रकार सम्मान को बचाव करना उसमें भी बड़ा पाप है। जो सम्मान बचाव कर सकता है वह स्वयं भी किसी दिन आत्माही नहीं बन बैठेगा इसकी क्या आशा है ? वह अहिंसक राया को स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। किसी दूसरे विरोधी द्वारा आक्रमण करने पर भी उस के प्रति व्यक्तिगत आत्मरक्षण की कैद अपने मन में होनी नहीं

लाना चाहिए। कुछ भी हो, उस विदेशी को मुझे मार ही डालना है या उसके देश पर भी मुझे कब्जा कर लेना है, ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए। किन्तु उसके आक्रमण का मुकाबला तो करना ही पड़ेगा। यदि प्रतिरोध करने वाले के हृदय में अपना साम्राज्य बढ़ाने की भावना हो, तो वह भावना हिंसामूलक है। लेकिन केवल 'अपने देश की आजादी को सुरक्षित रखने का विचार है, और उस आजादी के लिए यदि उसे लड़ना भी पड़े, तो लड़ाई करना उसका राष्ट्रीय कर्तव्य है। यदि राष्ट्र की सुरक्षा के लिए युद्ध के बजाय अन्य शांतिपूर्ण उपायो से कोई मार्ग निकाला जा सके, तो वह सर्वोत्तम है। पर यदि वक्त पड़ने पर अहिंसा का नाम लेकर मैदान से भागने वाला तो कायर ही है।

हिंसा के प्रकार



हिंसा चार प्रकार की होती है। १ सकल्पी, २ आरम्भी, ३ उद्योगी और ४ विरोधी। जानबूझकर मारने का इरादा करके किसी निरपराध व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण करना या किसी को मारना, सकल्पी हिंसा है। खान-पान, रहन-सहन, घर-गृहस्थी इत्यादि काम-धंधों में जो हिंसा हो जाती है, वह आरम्भी हिंसा है। खेती-बाड़ी, व्यापार-उद्योग करते हुए जो हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा है और जो शत्रु का आक्रमण होने पर देश को विनाश से बचाने के लिए तथा अन्याय का प्रतिकार करने के लिए, आजादी की सुरक्षा और राष्ट्र की शांति के लिए जो युद्ध किया जाता है वह विरोधी हिंसा है। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से यदि पहले प्रकार की हिंसा का परित्याग सारा समाज कर सके, तो सारी

अभ्युपगम



एक प्रश्न और चिन्तन के लिए वहाँ अवस्थित कर देता हूँ। एक ऐसा व्यक्ति जो पूर्णतः अहिंसा की शोधा करना चाहता है लेकिन वह अहिंसा का साधक होने के साथ-साथ साम्प्रदायिकता से भी दूर उसके सामने किसी बाहरी आशय का प्रश्न खड़ा हो जाता है। उसके देश पर कोई साम्प्रदायिक विदेशी आक्रमण कर बैठे है। ऐसी परिस्थिति में वह अहिंसक राजा क्या कराय करे? आक्रमणकारी देशी के साथ बढ़कर आ रहा है। आक्रमण के रूप में वह देश को खूदता है और प्रजा को पीड़ित करता है। संस्कृति और सम्पत्ति को नष्ट करता है। गाँव-बहुतों की हत्या करता है और तारे जीवन को लूट-भूट करता है। तब अहिंसक राजा जिसके पक्षों पर प्रजा की रक्षा का उत्तरदायित्व है, क्या करे? उसका एक समय क्या कर्तव्य होना चाहिए? वह राष्ट्र को मुक्त के लिए उस आशय का मुकाबला करे या नहीं? एक तरह उसे आक्रमण करने वाली शक्ति के साथ दीपक बुझ करना पड़ता है और दूसरी तरह स्वदेश की जानों निरीह जनता को आक्रमण के चरमों में आत्म-समर्पण करना पड़ता है। अन्धकार के सामने धिर झुकावा पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में क्या ब करना चाहिए? क्या वह वापस नहीं है? मुनसिबी और गर्वुकता का प्रभाव नहीं है? जिस प्रकार स्वयं आत्म-समर्पण करना पार है। उसी प्रकार आत्म-समर्पण को अस्वीकृत करना उसने भी कहा पार है। जो आत्म-समर्पण कर सकता है, वह स्वयं की किसी विन आत्मा की वही बन बैठेगा इसकी क्या वापसी? तब अहिंसक राजा को स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। किसी दूसरे विदेशी द्वारा आक्रमण करने पर भी उस के प्रति व्यक्तिगत आत्म-समर्पण को केवल अपने मन में होव नहीं

सारे आरोप और आक्षेप झूठे साबित होंगे । स्वयं अहिंसा का पालन करनेवालों ने भी अहिंसा को समझने में भयंकर भूल की है ।

वीरो का धर्म



अहिंसा का अर्थ यह नहीं है कि हम सिर पर दोनों हाथ रखकर घर का दरवाजा बन्द करें और अन्दर छुपकर बैठ जाए । अहिंसा में जीवन की कोई निष्क्रिय एवं अभावात्मक स्थिति नहीं है । अहिंसा में जोश होता है, मर्षण होता है, प्रतिकार होता है । जो अहिंसा निष्प्राण है, निस्तेज है, जिसमें अन्याय के साथ मुकाबला करने की शक्ति नहीं है, जो सघर्ष नहीं कर सकती, जो अपनी आजादी को सुरक्षित नहीं रख सकती, जो मनुष्य को या राष्ट्र को गुलाम बना देती है, वह अहिंसा है ही नहीं । अगर कुछ लोग अहिंसा के नाम पर ऐसा करते हैं तो वह निकम्मी और निरर्थक अहिंसा है । महात्मा गांधी ने आजादी प्राप्त करने के लिए हिंसा के रास्ते को गलत समझा । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे घर में जाकर बैठ गये । हम सब यह अच्छी तरह से जानते हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा गांधी ने अहिंसा के रास्ते से अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की आजादी देने के लिए मजबूर कर दिया । उन्होंने अंग्रेजों के साथ मुकाबला किया । गुलामी का प्रतिकार करने के उपाय किये । उपवास किया, असहयोग किया, सत्याग्रह किया, सविनय अवज्ञा की और अहिंसा के रास्ते से देश को आजादी दिलायी । यह एक उदाहरण उन सब आक्षेपों का सचोट उत्तर है जो यह कहते हैं कि अहिंसा पशु है या निष्क्रिय है । महाश्रमण महावीर ने भी और तथागत बुद्ध ने भी अहिंसा के रास्ते से समाज में क्रांति लाने का प्रयत्न किया था । चारों ओर जातिवाद का नशा छाया हुआ था, सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-

समाजवादी का तत्त्व बहुत सरलता से ही समझा है। तीन चरम से अपने अनुयायी भावकों के लिए इसी तकलीब हिंसा को छोड़ने का आदेश दिया है। भारते की भावना से किसी निरदरता की हिंसा करना साम्राज्य की निम्नता से किसी पर आक्रमण करना आर्थिक लोभ से किसी को मारना बनी बनने की आकांक्षा से किसी का शोषण करना आदि चारों तकलीब हिंसा के अन्तर्गत आती हैं।

बीचन-निर्वाह के लिए हर व्यक्ति को अपने पासपासि का काम बना तो करना ही पड़ता है। इस प्रकार के कार्य-व्यवस्था के आरम्भ हिंसा का ही आधा सहज-सम्भव है। किन्तु अवस्था के लिए की जानेवाली इस हिंसा को सहज छोड़ सकना संभव नहीं। इसी प्रकार स्वाभार, उद्योग और छोटी इत्यादि में होने वाली उद्योग सम्बन्धी हिंसा को भी टल सकना संभव है। विशेषी हिंसा को भी नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि अनुष्ण को निर्दय शत्रुओं से अपनी अपन देश की और अपने समाज की समुचित रक्षा का प्रयत्न करना ही पड़ता है।

रस्किन ने भी विविध का एक बड़ा शारीरिक या एक पुस्तक किसी है जिसका हिन्दी अनुबाध महात्मा गान्धी के 'सर्वोदय' के नाम से दिया है। बहुत रस्किन कहता है कि त्रिपाठी का आदर्श यह है कि वह समय किसी को मारने न आवे, किन्तु देश की आजादी को सुरक्षित रखने के लिए यदि उसे किसी को मारना पड़े और स्वयं को भी मर जाना पड़े तो वह आवश्यक है। क्योंकि बहुत करने, मारना या मरना बड़ा मुश्किल नहीं है, बल्कि बहुत त्रिपाठी का प्रभाव बहुत तो अपने देश की आजादी को सुरक्षित रखना है। कुछ लोग कहते हैं कि अहिंसा नष्ट होती है। अहिंसा कार्यो का चरम है। अहिंसा ने देश को मुक्त बनाया। परन्तु अहिंसा के अत्यन्त दुष्टिकीर्त को यदि हम समझने का प्रयत्न करें तो वे

सारे आरोप और आक्षेप झूठे साबित होंगे । स्वयं अहिंसा का पालन करनेवालों ने भी अहिंसा को समझने में भयंकर भूल की है ।

वीरो का धर्म



अहिंसा का अर्थ यह नहीं है कि हम सिर पर दोनों हाथ रखकर घर का दरवाजा बन्द करें और अन्दर छुपकर बैठ जाए । अहिंसा में जीवन की कोई निष्क्रिय एवं अभावात्मक स्थिति नहीं है । अहिंसा में जोश होता है, सघर्ष होता है, प्रतिकार होता है । जो अहिंसा निष्प्राण है, निस्तेज है, जिसमें अन्याय के साथ मुकाबला करने की शक्ति नहीं है, जो सघर्ष नहीं कर सकती, जो अपनी आजादी को सुरक्षित नहीं रख सकती, जो मनुष्य को या राष्ट्र को गुलाम बना देती है, वह अहिंसा है ही नहीं । अगर कुछ लोग अहिंसा के नाम पर ऐसा करने हैं तो वह निकम्मी और निरर्थक अहिंसा है । महात्मा गांधी ने आजादी प्राप्त करने के लिए हिंसा के रास्ते को गलत समझा । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे घर में जाकर बैठ गये । हम सब यह अच्छी तरह से जानते हैं और इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि महात्मा गांधी ने अहिंसा के रास्ते में अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की आजादी देने के लिए मजबूर कर दिया । उन्होंने अंग्रेजों के साथ मुकाबला किया । गुलामी का प्रतिकार करने के उपाय किये । उपवास किया, असहयोग किया, सत्याग्रह किया, सविनय अवज्ञा की और अहिंसा के रास्ते से देश को आजादी दिलायी । यह एक उदाहरण उन सब आक्षेपों का सचोट उत्तर है जो यह कहते हैं कि अहिंसा पगु है या निष्क्रिय है । महाश्रमण महावीर ने भी और तथागत बुद्ध ने भी अहिंसा के रास्ते से समाज में क्रांति लाने का प्रयत्न किया था । चारों ओर जातिवाद का नशा छाया हुआ था, सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-

विधवाओं ने धानव को बन्धा कर दिया था यह और यदि भी प्रचारों ने मानव-जाति को सहस्र-वहस्र कर दिया था कुलाभी और दाह-मवा की वैधियां जमान के पैरों को बांधे हुए थीं अवधि बरपड़ हो गई थी। उस समय जबमान् महावीर और मीठम बूढ़ ने जाति की अलख बचायी। समान थे इन कु-बचारों को जमान्त करने का आन्दोलन होता और वे अपने मिशन में बहुत दूर तक चले थे। किन्तु उन्होंने हिंसा का सहारा नहीं लिया। दोनों ही महापुरुष अहिंस के। वे राज्याधिकारी भी थे। उनके पास ऐसी शक्ति थी कि वे पक्षों से ऐसा संश्लिष्ट कर सकते थे। आत्म-विश्वास और अहिंसा का प्रचार करने वालों को बन्धी बना सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने कानून का राज्य का या देना का सहारा नहीं लिया। वे जन-मत को बाधित करने के लिए यदि-बाध भूमे। जनता को बलहाता। जनता के दिव को बरखा विचारों में परिवर्तन किया, घर-घर में अपना उपदेश पहुंचाया अपने विचारों को सेवा और बाहिर उन्होंने सामाजिक जाति की मजाल को बकाकर अवधि का नया मान-वन्द कावम किया। वे उन लोगों से कुछना चाहता हूं जो बहिष्ता को कावरता का प्रतीक बताते हैं। क्या महावीर, बूढ़ कावर थे? नहीं वे लोग कावर नहीं थे व इनकी बहिष्ता कावर थी; बलिक कावर थे ही बहिष्ता का बहाला बकाकर अपने शत्रुओं की रक्षा करना चाहते हैं। लोग कहता है कि किसी को मारना महापुरुष का काम है? किसी को मारने के लोग की महापुरुष हैं? महापुरुष तो हैं स्वयं भर-बाले में। अपने शत्रुओं का मोह बड़ा बर्बकर होता है। कोई भी जावयी मरना नहीं चाहता। बूढ़ बीमार और बर्बर मारपी भी बाधितों हम तक यह प्रबल करता है कि बड़े पैनी कोई दवा निज नाम बिगड़ें कि यह कुछ दिन और भी लगे। कैसा विविध मोह होता है अपने शत्रुओं का। ऐसी स्थिति में यदि बहिष्ता का प्रचारक अपने शत्रुओं की बहिंसा कर देता है या छोड़ ही जाता है तो क्या बड़े कावरता

कहा जाय ? क्या उसे अहिंसा का पगुपन कहा जाय ? नहीं, यह तो वीरता की अहिंसा है। अहिंसा वीरो का धर्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऊपर में अहिंसात्मक प्रतिकार के उदाहरण हैं। यह जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। परन्तु अन्याय के प्रतिकार का जब कोई अहिंसात्मक प्रतिकार सम्भव न हो, या इसकी तैयारी न हो तो अहिंसा के आदर्श की छाया में कायरता को प्रथम नहीं दिया जा सकता। सामाजिक जीवन में अन्याय का प्रतिकार आवश्यक है। इसके लिए भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ। रावण सीता का अपहरण करके ले गया। राम को यह मालूम हुआ कि सीता रावण के शिकर में फँसी हुई है। वहाँ एक सीता नहीं, न जाने कितने प्राणी मूक भाव से उस उच्छ्वसल शासक की गुलामी की चक्की में पीये जा रहे थे। एक तरफ सीता की रक्षा का प्रश्न था और दूसरी तरफ रावण के साथ युद्ध करके हजारों मनुष्यों के महार का प्रश्न था। उस समय सीता को बचाने के लिए और मनुष्य जाति को भयकर गुलामी से मुक्त करने के लिए राम ने युद्ध करने का निर्णय किया। वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम, जो भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक हैं, युद्ध करने के लिए निकले। यदि उन्हें युद्ध में केवल हिंसा की बू आती और अहिंसा के भविष्य का कोई प्रश्न न होता तो क्या वे युद्ध के लिए तैयार होते ? (लेकिन अन्याय को बरदास्त करना पाप है, अपने में यह स्वयं भी एक महा हिंसा है, इस आदर्श ने उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया और वे मैदान में उतरे। हालांकि युद्ध करना राम का उद्देश्य नहीं था। वे युद्ध को टालना चाहते थे। हर सम्भव उपाय से उन्होंने युद्ध को टालने का प्रयत्न भी किया। लेकिन जब दूसरे सभी रास्ते बन्द हो गये और केवल युद्ध का मार्ग ही शेष रहा, तब उन्होंने अहिंसा का बहाना लेकर अपने मुँह को छुपाया नहीं। उन्होंने रावण से बार-बार कहलवाया कि न तो मुझे

दुखी चाहिए, न सुखर बननाएँ, न सोने की बँचा न सुनहार बनना
वन मुझे केवल जीना चाहिए। मैं सीता की मुक्ति की केवल विषय
विचार के लिए नहीं किन्तु वर्तमानस्थिति के लिए, अत्याचार के प्रतिहार
के लिए चाहता हूँ। मुझे तुमसे कोई डर नहीं है। बुरा नहीं है मैं
तुमसे नहीं। तुम्हारे अत्याचार के बुरा करता हूँ। तुम एक राजा हो,
पालक हो अत्याचार के प्रतिहार के लिए ही सिद्धान्त पर बैठे हो।
यदि तुम स्वयं ही अत्याचार अत्याचार करने लगे फिर प्रजा को स्वायत्त
करो दियेगा ? किन्तु राज की यह बात सब स्वीकार नहीं हुई। सभी
के अग्रणी की दण्ड देने के लिए हाथ में धनुष लेकर आने लगे। कुछ
में हिंसा अवस्थ हुई। किन्तु अन्त हिंसा का सुवर्णयुग राजन ने
किया है।

हृदय का आदर्श

★

जैन धर्म के अहिंसा विषयक उत्पन्न का स्पष्ट निर्देश है कि
को अत्याधी हो, को अत्याचारी हो, को अत्याचार का शोही हो उसे यथो-
चित दंड मिलना ही चाहिए। परन्तु जब अन्तर पर भी अहिंसा की
आस्था करने वाले को अग्रणी के साथ वैमनस्य नहीं रखना चाहिए।
अग्रणी के प्रति हमारे मन में किसी प्रकार की बुरा नहीं होनी
चाहिए। ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। बुरा सोची के नहीं सोचों के होनी
चाहिए। बही अत्याचार हृदय के जीवन में भी प्राप्त होता है।
महाभारत का कुछ हृदय की प्रेरणा के ही हुआ। यदि हृदय ने अर्जुन
को अग्रणी पादों की नीच न दिया होता तो शायद कुछ न होता।
किन्तु उनके आदर्श की अग्रणी की दण्ड देने का ही अन्त का।
अर्जुन की दण्ड कुछ को आत्मने के लिए अनेकों बार प्रयत्न किया।
स्वयं दण्ड अन्तर भी सुधीय की बुरा ने नहीं। और तो क्या केवल

पांच गांव तक पर समझौता कर लेना चाहा । परन्तु वैसा कुछ भी सम्भव नहीं हो सका । आगे चलकर ठीक युद्ध के मोर्चे पर अर्जुन न जब हथियार डाल दिये और कौरवों के साथ लड़ने से इन्कार कर दिया, तब श्रीकृष्ण ने हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी द्वन्द्व में से युद्ध का ऐसा आदर्श शास्त्र उपस्थित किया, जिसे सुनकर अर्जुन को ज्ञान मिला । उसने अहिंसा की वास्तविकता को समझा और आखिर वह युद्ध के लिए तैयार हुआ ।

सारी भारतीय सस्कृति इस तरह के उदाहरणों से भरी पड़ी है । इसलिए उसके बहुत विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है । सीधा-सा प्रश्न है कि अहिंसा की साधना परिस्थिति, समाज, व्यक्ति और उसके विवेक का सतुलित स्वरूप है । यदि इनमें कहीं पारस्परिक सतुलन नहीं रहेगा, तो अहिंसा की साधना बिगड़ जाएगी ।

हम अनुग्रह और निग्रह के प्रश्न को लेकर चले थे और यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि क्या केवल अनुग्रह ही अहिंसा है या निग्रह में भी अहिंसा है ? उपरोक्त विवेचन के बाद यह विषय काफी स्पष्ट हो आता है ।

अहिंसा का मानदण्ड

बीच बीच प्रकार के होते हैं। एक इन्द्रिय वाले दो इन्द्रिय वाले तीन इन्द्रिय वाले चार इन्द्रिय वाले और पांच इन्द्रिय वाले। उनमें बीजों में कोई लुक घटीरवाला होती है, अंड है या बहुकाम मतलब है तथा कोई मूलम घटीर वाला बनू बनवा भीड़ा है। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं, जो इन से भी मूलम है वे पृथ्वी तक अग्नि वायु और वनस्पति के घटीर में विद्यमान करते हैं। इन सभी बीजों के घटीर की समापन में अंतर होता है। (चलनु सभी बीजों के अग्नि समापन के होती है।) हालांकि इन्द्रियों के विचार के अनुसार इनके घटीर में और हिंसा के प्रकार में बहुत अंतर होता है। अब अट्टा है कि किन प्राणी की हिंसा में ज्यादा पाप है और किन प्राणी की हिंसा में कम पाप है। हिंसा करते समय हिंसक की मनस्थिति की एक रूप की नहीं होती है। किन्ती के अन्त करण में हिंसा की भावना बहुत बढ़ होती है और किन्ती के हृदय में वही भावना कुछ कम्यम होती है या कम्य होती है।

इस प्रकार हिंस और हिंसक की अनेक भूमिकाएँ हैं। इन दोनों के बीच के हिंसा की निष्पत्ति होती है। यदि बीच में होने वाली सबसे हिंसाएँ एक ही अंश की होती हों तब तो लाभ समी या समता और नाश का भाव भी एक ही अंश में होता चाहिए था। चलनु ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है और हिंसा में यदि किन्ती प्रकार का ठारतम्ब है, वाले कोई हिंसा करी है और

कोई हिंसा छोटी है तो इस भेद का आधार क्या है, यह जिज्ञासा प्रायः हृदय में उठती है। क्या मरने वाले जीवों की सख्या के आधार पर हिंसा का मानदण्ड कायम किया जाय, अथवा जीवों के शरीर की स्थूलता एवं सूक्ष्मता पर हिंसा की न्यूनताधिकता अवलम्बित है? अथवा हिंसक भी मनोवृत्ति में जो तीव्रता और मदता होती है, उस पर हिंसा की न्यूनताधिकता का मानदण्ड आधारित है? ।

तारतम्य

कुछ लोगो का कहना है कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव भी तो जीव ही हैं। उनमें भी प्राण हैं और उनको भी जीने का हक है। वे बेचारे भी जीना चाहते हैं, किन्तु मूक होने के कारण अपनी इच्छा को अभिव्यक्त नहीं कर सकते। शायद इसी-लिए आपकी आंखों में उनका मूल्य कम है। दो इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पाँच इन्द्रियवाले जीवों तक जितने भी बड़े-बड़े प्राणी हैं, क्या केवल उन्हीं की जिंदगी का मूल्य है? यह प्रश्न कई बार अहिंसा के साधकों के सामने आता है और उन्हें उलझन में डाल देता है। परन्तु गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिंसा इन सब बाहरी बातों पर आधारित नहीं हो सकती। जहाँ जीव ज्यादा मरेंगे, वहाँ ज्यादा हिंसा होगी और जहाँ जीव कम मरेंगे वहाँ कम हिंसा होगी, ऐसी मान्यता ठीक नहीं लगती। हम जीवों की गिनती में उलझ जाते हैं और मानवीय भावना के उतार-चढ़ाव को भूल जाते हैं। एक आदमी भूखा-प्यासा दरवाजे पर पड़ा है। वह छटपटा रहा है। यदि उस समय उसको पानी पिला दिया जाय तो उसके प्राण बच सकते हैं। किन्तु यदि वहाँ कोई हिंसा की तरतमता का प्रश्न खड़ा करे और कहे कि एक तरफ पानी पिलाने से केवल एक जीव

बचता है और दूसरी तरफ सब पानी के अंतस्म बीच भर जाते हैं। इस प्रकार बचा केवल एक बीच और मारे पड़े अतस्म बीच। ऐसी स्थिति में सब छड़पटाते हुए इच्छाओं को पानी पिनाना बर्ब और पुण्य कैसे माना जायेगा? यह तो यही बात हुई कि एक समर्थ की रक्षा के लिए अतस्म असमर्थ को मार दिया गया।

बाद यही चुनने वाली लयती है और एक बार इस तरह को चुनने के बिना प्रकृत-वा हो जाता है। किन्तु यदि मानवीय व्यवहारों के बहार-वर्णन का अनुपात करें और बुद्धि की रचना का जो आधार है सब पर विचार करें तो निश्चय ही इस तरह के भावुकता या अज्ञानता ही प्रतीत होती। वास्तव में बहिष्ता का सम्बन्ध बीबों की विगती करने से नहीं है। बल्कि के बाहरी पक्ष से हिता और बहिष्ता को भास नहीं जा सकता। एक ओर बाधना है, दूसरी ओर सक्षमता है। एक ओर अर्धबुद्धि है तो दूसरी ओर बाह्य बुद्धि है।

प्राचीन काव्य में इस्तितापद नाम के ओर उपलब्धी होते के जो बड़ी कठिन उपस्था करते थे। जब आहार करने का समय जाता तब वे सोचने के कि यदि इस पक्ष-भूल कार्यों से बर्ब और मारे जायेगे। इसलिए कभी न किसी एक ही स्तुतिकाय बीच को मार बिना बाध किन्तु हम भी कार्य और दूसरों की भी बिकारों। साथ ही हिता की भासा भी कम हो। यह सोचकर वे भयान में जाते थे और एक हाथी बार जाते थे। फिर कई दिन तक सब मृत इच्छा-वरीर की सुनिचा पूर्वक जाते जाते थे। कनका मन इस बात से बड़ा संतुष्ट होता था कि उन्होंने अतस्म बीबों के प्राणी की रक्षा का महापुण्य कमाया है और केवल एक बीच को मारने का पाप बिना है।

परन्तु जबमान महावीर ने कहा है कि कनका ऐसा समझना न केवल अवगुर्ण है, बल्कि वस्तु और अनुचित भी है। जबमान महा-

वीर ने अपने विचार को स्पष्ट करते हुए कहा कि वनस्पति जगत के एक इन्द्रिय वाले जीव की हिंसा में भावों की तीव्रता प्रायः कम होती है। उग्र समय में उग्र घृणा और वीर्य द्वेष का भाव पैदा नहीं होता। परन्तु हाथी जैसे विशालकाय पाच इन्द्रिय वाले जीव को जब मारा जाता है तो अन्तःकरण में एक प्रकार की हलचल-सी मच जाती है। उसे मारने के लिए घेरा डालना पड़ता है, उसके साथ सघर्ष करना पड़ता है। उसके लिए नाना प्रकार के दांव-पेंच करने पड़ते हैं। इस सारी प्रक्रिया में हृदय की भावनाएँ दूषित और मलिन हो जाती हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा के समय इस तरह की तीव्रता नहीं होती। ज्यों-ज्यों भावों की तीव्रता बढ़ती चली जाती है, त्यो-त्यो हिंसा की तीव्रता भी बढ़ती जाती है। इसलिए एक इन्द्रिय वाले जीवों की अपेक्षा दो, तीन, चार और पाच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा में उग्रता, तीव्रता, घृणा, द्वेष आदि बढ़ने के कारण हिंसा भी बढ़ती जाती है।

मान लीजिए कि एक साधु किसी गृहस्थ के घर भोजन में गया। गृहस्थ के घर में एक तरफ उबला हुआ साग रखा है और दूसरी तरफ उबली हुई मछली रखी है। दोनों ही चीजें पकी हुई हो से निष्प्राण हैं। इस समय दोनों में चैतन्य और और जड़ की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, परन्तु साधु इन दोनों में से कौनसी चीज को ग्रहण करेगा? जो सब जीवों को बराबर मानकर चलता है, उसके लिए उबली हुई ककड़ी और उबली हुई मछली में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। उसके मतानुसार तो जैसी पीड़ा एक इन्द्रिय वाले जीव को हुई थी, वैसी ही पीड़ा पाच इन्द्रिय वाले जीव को भी हुई थी। परन्तु फिर भी वह साधु मछली को छोड़कर ककड़ी को स्वीकार करता है। आखिर क्यों? क्योंकि उसके पीछे एक तरह की नृशंसता और निर्ममता का अभाव काम करता रहता है।

पाल जीबिए एक भारती कहता है कि मैं रोज साँठ बी खाता हूँ और सात-सठ्ठी बी खाता हूँ। इन बीजों में से किसी एक बीज की डोन्ना चाहता हूँ। चाहे तो मत्त की डोन् बु, वा चाहे तो सात-सठ्ठी की डोन् बु। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को सहीसा मार्ग बतलाना चाहिए ? जो इस विज्ञान को लेकर चलता है कि अधिक बीज मरने से अधिक हिंसा होती है तो क्या वह उस व्यक्ति को ऐसी सलाह देगा कि तुम सात-सठ्ठी खाना डोन् हो और साँठ का सेवन करो; क्योंकि सात-सठ्ठी में असह्य और अनंत बीज होते हैं, जबकि साँठ तैयार करने के लिए किसी एक ही बीज की हिंसा करनी पड़ती है ? वहाँ पर क्या बीजों की दिवली का हिंसा करना डीक होना ? क्या कल मध्याह्न पर हिंसा की श्रुताधिक्यता के लिए कोई मानक या कमीटी बनायी जा सकती है ?

हिंसा में भी सारलस्य होता है, वह मनुष्य की भावना पर आधारित है वह हमने पहले भी कई बार बतलाना है, वहाँ भी भी अहंकार इत्यादि कल्पित भावनाओं की दीवली कम होती है, वहाँ हिंसा भी कम होती है। जब हम कमीटी पर हम अपने विद्वानों को कहेंगे तो वह बहुत सख्त समय में जा बनेगा कि किसी एक इन्डिविजुअल वाले बीज की मारने से बिलगी हिंसा होती है कबले नहीं अधिक पांच इन्डिविजुअल वाले बीज की मारने में या कल देने से हिंसा होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो हिंसा और अहिंसा की सारी व्याख्या बहुत मनुष्य और एकापी बन जायगी।

हमारा प्रत्येक बर्ष पड़ती है जानू होता है। महात्मा गांधी ने पड़ती बर्ष और स्वदेश बर्ष का अद्वैता के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध बनाया है। यदि हम अपने पड़ती के कुछ से इतिव नहीं ही कहें तो हमारी अहिंसा का कोई बर्ष नहीं रहता। मनुष्य मनुष्य के

साथ कैसा वर्ताव रखे, यह उसके सामने सबसे पहला और सबसे बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है। हमारी अहिंसा का परीक्षण सबसे पहले मनुष्य पर ही होना चाहिए। हम अपनी अहिंसा का प्रयोग मनुष्य पर न करके जीव-जंतुओं अथवा वनस्पति अथवा पानी पर करेंगे तो वह निहायत उपहामास्पद अहिंसा साबित होगी। हम कीड़ो-मकोड़ो की रक्षा के लिए तत्परता दिखाते हैं, हम चींटियों के बिनो पर चीनी डालते हैं, हम कबूतरों के लिए दाने फेंकते हैं और जो अपने निकट हैं, जो अपने दुकान में मुनीम-गुमास्ते हैं, अपने आफिस में जो क्लर्क-चपरासी हैं, अपने कारखानों में जो श्रमिक-मजदूर हैं, उनके माथ प्रेम का, सहानुभूति का तथा करुणा का व्यवहार नहीं करते तो वह अहिंसा नितान्त एकांगी और अपग ही रहने वाली है। मैंने देखा है कि अनेक सेठ अपने मजदूरों के साथ ऐसा घृणित और निमम व्यवहार करते हैं, जिसे देखकर दातो तले अगुली दवानी पड़ती है। वे रोज अहिंसा का व्याख्यान सुनते हैं, अहिंसा की किताबें पढ़ते हैं, अहिंसा पर व्याख्यान भी देते हैं और अहिंसा की स्थापना के लिए अथवा अहिंसा के प्रचार के लिए हजारों-लाखों रुपये खर्च भी करते हैं, परन्तु उनकी वह अहिंसा केवल किताबों में बंद पड़ी रहती है। उनकी वह अहिंसा केवल वाणी का विलासमात्र बन जाती है। उनकी वह अहिंसा केवल बौद्धिक कार्यक्रम का रूप धारण कर लेती है। उनके व्यवहार में, उनके घर में, उनके आफिस में, उनके कारखाने में, उस दिव्य अहिंसा का रूप प्रगट ही नहीं हो पाता। वे मजदूरों से छ घंटे के स्थान पर आठ घंटे, दस घंटे, बारह घंटे, काम लेने के लिए तत्पर रहते हैं। किन्तु उनका उचित पारिश्रमिक देते समय बड़े कठोर, अधीर और कृपण बन जाते हैं। उन मजदूरों की मेहनत में खुद तो लाखों रुपये कमाने की योजनाएं बनाते हैं, किन्तु लाखों रूपयों का मुनाफा होने के बाद भी उन मजदूरों के लिए वे किसी तरह की सुविधा का इत्तजाम नहीं करते। यह सब देखकर हृदय को बड़ा दुःख

होता है। जब ये एक तरह की आगि पैदा होती है और इस आग पर बड़ा अवरण होता है कि उसकी व अहिंसा की बात कहाँ बनी ? प्यास से झटपटाने हुए मनुष्य को बाबी बिछाते समय ये सोचने हैं कि इनके अलक्ष्य जीवों को हिंसा हो जायेगी परन्तु अपने आर्द्र के समान को उनके चर्मचारी हैं, उनके साथ व्यवहार करते समय उनके हृदय में कोई क्या का आश पैदा नहीं होता। जब मैं यह सब देखता हूँ तो मुझे यह मानने के लिए बाध्य होता पड़ता है कि निश्चय ही अहिंसा का प्रत्यक्ष जीवों की प्रकृति नहीं हो सकता बल्कि मनुष्य की आसक्ति ही हो सकती है।

एक व्यक्ति जनसंख्या पर आक बसाता है और दूसरा किसी मनुष्य या पशु की वरदान पर झूठी बसाता है। जब आत्म करण की ही भावी बसाकर बुझना चाहिए कि क्या दोनों समान आश के बाबी हैं ? क्या दोनों की हिंसा समान कोटि की है ? जो लोग एक इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय वाले जीवों की हिंसा को समान ही मानते हैं क्या वे इस अवस्था प्रकृति को बचीरता से सोचने का प्रयत्न करेंगे ?

संक्षेप



अहिंसा और हिंसा का प्रभाव केन्द्र व्यक्ति का यह संरक्षण है, जिस संरक्षण के आधार पर सारे समाज का सारी स्थिति का और सारे विश्व का प्रभाव होता है। यदि एक संरक्षणी में परिवर्तन है निश्चय ही तरफ़ा है तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति हिंसा का बाबीदार बने। जीवननवा के द्वारा हिंसा एवं अहिंसा को आसक्ति बिन बर्न नहीं सिखाता। जनराल महावीर ने इस विचार-व्यक्ति का विरोध किया है। हमारे जीवननवा में ही कुछ एक तरह के अतिरिक्त-वा-

शाल चिन्तक हुए हैं, जिन्होंने इस प्रकार के विचार समाज को दिये जिससे कि लोगो मे जावो को गिनने की वृत्ति बढी और भावना का म्यान कम हुआ । परन्तु निश्चय ही यह घातक विचार-पद्धति है । इससे मानव-समाज की व्यवस्था टूट जायेगी । अहिंसा का व्यावहारिक रूप खडित हो जाएगा, सामाजिकता की रीढ़ टेढी हो जायेगी और मानव बहुत सकुचित विचारो मे फस जायेगा ।

हमने अहिंसा के मान-दण्ड को समझने के लिए यह एक ऐसा मुद्दा रखा है, जो बडे लम्बे समय से विचारकों के सामने विचार का विषय रहा है । विचार निरतर आगे बढ़ता रहता है । वह किसी युग के साथ या किसी ग्रंथ के साथ या किसी व्यक्ति के साथ चिपकता नहीं । विचारो की खोज सत्य की खोज है । इसलिए वह खोज निरतर चलती ही रहनी चाहिए । जो लोग ऐसा समझते हैं कि विचारों की खोज अनावश्यक है या जो लोग ऐसा समझते हैं कि विचारो का विकास अपनी अंतिम सीमा तक पहुच गया है, वे लोग भ्रम मे हैं, क्योंकि विचारों का चरमोत्कर्ष इसी में है कि वे निरतर नये-नये तथ्यों को ग्रहण करते रहें । यदि यह विकास, यह प्रगति अवरुद्ध हो जायेगी तो मानव-जाति के इतिहास में भयकर भूल होगी । मानव-समाज का विकास एक ऐतिहासिक देन है । मानव निरतर प्रगति करता आया है । उसने विचारों की नयी-नयी दीक्षाएँ लीं और अपने युग को उन विचारों के साथ जोड़कर सर्वांग-सुन्दर बनाया । विचारो की नयी खोज ने समाज को समृद्ध किया, विचारो की नयी खोज ने नये-नये ऋषि-महर्षि, सत और मनस्वी पैदा किये, विचारों की खोज ने समाज की कमियों को अथवा असंगणियों को दूर किया । जो विचारों की खोज इतनी महत्त्वपूर्ण है, उसको हम रोक कैसे सकते हैं । इसी पृष्ठभूमि मे अहिंसा का विचार भी हमारे सामने आता है । हमे अहिंसा की दिशाओ मे नित्य-निरतर खोज करनी है । जिस तरह प्राकृतिक

जबसे मे अथवा नीतिक पर्वसे विज्ञान ने नये-नये अनुसंधान किये नये-नये प्रयोग किये और नये नये आविष्कार किये उसी तरह अहिंसा के क्षेत्र में हमें नये-नये प्रयोग अनुसंधान और आविष्कार करके अहिंसा की सर्वोत्तम बखला चाहिए। समाज में हिंसा का शासन किस तरह से बीरे बीरे संकुचित हुआ तथा वाम और अहिंसा का शासन बीरे-बीरे व्यापक होता तथा वाम इसका रास्ता हमें हुआ चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो जाने वाली पीढ़ी के साथ यह बहुत बड़ा सम्भाव होना। जिन्होंने समाज से निवृत्ति लेकर अहिंसा की शाखा में अपना जीवन बसाया है उनका यह उत्तराधिकार है कि वे पूर्वोक्त अहिंसा के अनुसंधान में अपने-आप को समर्पित करें। बिना तरह एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में किसी नवी चीज का अन्वेषण करने के लिए अपने दारे जीवन की खपा देता है। उसी तरह हमें भी एक वैज्ञानिक की तरह अहिंसा की प्रयोगशाला में अहिंसक जीवन के प्रयोगों और आविष्कारों के लिए अपने जीवन की खपा देना है। अगर हम इसकी ठेकरी रखते हों तो वास्तव में हमें अहिंसा की शाखा का अधिकार है क्योंकि अहिंसा के नाम पर हम आदर्श, विद्या और सम्बन्धिता का सहारा लेते ही हैं वास्तविक अहिंसा के द्वार तक नहीं पहुँचेंगे।

हिंसा की रीढ़

२

दो दृष्टियाँ हैं। एक अन्तर्दृष्टि, दूसरी बाह्य दृष्टि। दोनों दृष्टियाँ जीवन में समान मूल्य रखती हैं, लेकिन अन्तर्दृष्टि का महत्त्व नव ने अधिक है, जब कि आजकल उस अन्तर्दृष्टि को छोड़कर अधिकांश माधव चरित्रदृष्टि में ही उत्तरे हुए प्रतीत होते हैं। बाह्यी प्रिया-बाह्य, आचार-विचार, रहन-सहन इत्यादि जीवन में जो कुछ भी बाह्य के काम हैं, उन्हीं को प्रधानता दे दी गयी है और मानसिक पवित्रता, आत्मा की उच्च सांगृहीतिक भूमिका एवं विचारों का कृपा धनतः पीछे छिप गया है।

धर्म के बहिरंग और अन्तरंग दो प्रकार होते हैं, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बाह्यी धर्म में या बहिरंग दृष्टि में बराबर परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने युग में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार जीवन के बाह्य नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। पहले तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव के युग में साधुओं का रहन-सहन जिस रूप में था उस रूप में अन्य तीर्थंकरों के समय में नहीं था। मल्लि हर तीर्थंकर के युग में ये नियम और आचार बदलते रहे। भगवान् महावीर ने भी देखा, काल तथा माधवों की बदली हुई स्थिति को सामने रखकर अपने पहले के तीर्थंकरों द्वारा प्रचलित नियमों में अनेक परिवर्तन किये।

परिवर्तन



परिवर्तन वस्तु का स्वरूप है। वही परिवर्तन नहीं होता वही वस्तु का वही है। जो व्यक्ति एक बनकर, बंदा बनकर, किसी विषय को एक केड़ा है वह प्रवर्तित नहीं बन सकता। प्रवर्तित के लिए परिवर्तन आवश्यक होता है। इस व्यापारिक बीचम में भी निरंतर परिवर्तन करते रहते हैं। एक ही योजना दोन नहीं करते। एक ही कपड़ा दोन नहीं पहनते। फिर किसी एक ही विषय को लक्ष्यों तक और कुनों तक मानते रहने का कोई कुछ नहीं। रहने-रहने व्यापार-विचार, मर्त्यता परंपरा आदि के हों बराबर परिवर्तन करते रहना चाहिए।

आज के युग के विज्ञान व समाज के काममें नई-नई प्रश्न पैदा कर रहे हैं। इन प्रश्नों का उत्तर यदि हम नुछाने बंधों में बंधने की कोशिश करेंगे तो एकका उत्तर कैसे मिलेगा? क्योंकि जिस युग में इन प्रश्नों का निर्माण हुआ उस युग में वे प्रश्न ही नहीं थे। फिर कलका उत्तर इन प्रश्नों में कैसे मिलना पड़ेगा?

आज ज्ञान की स्थिति कतनी समझाएँ, उसके चारों ओर का गलामागल बंधे युग के चर्चवा जिनमें है। वही आज के युग में भी समझाएँ है, उसका हल करने के लिए हमें आज की दृष्टि के ही होचना पड़ेगा। अगर हम सोचने के लिए विचारों का बरबाद बंद कर देंगे तो ठानी हुआ वही मिल लेंगे। ठानी हुआ ज्ञान करने के लिए बरबाद और बिड़बिड़ों को बोलकर रहना बकरी होता है। ठीक वही तरह नई-नई विचारों को ग्रहण करने के लिए भी विज्ञान की बिड़बिड़ों को बुझा रहना पड़ेगा। जो बंद होकर, जड़-विस्वादी

बनकर पुराने नियमों में अपनी आत्मा को जकड़े रखते हैं, वे अपने जीवन में, अपनी साधना में और अपनी तपस्या में सफल नहीं हो सकते ।

प्रति वर्ष पतझड़ की ऋतु में जिस तरह सारे पत्ते झड़ जाते हैं और फिर वसंत आने पर नयी कोपलें लग जाती हैं, उसी तरह प्रत्येक युग में पुराने रूढ़िवादी विश्वासों को छोड़ देना चाहिए और नये विचारों की कोपलें उगानी चाहिए । किन्तु इतना बराबर ध्यान रहे (कि हमें पेड़ को जड़-मूल से नहीं उखाड़ देना चाहिए । यदि पतझड़ के समय पत्तों के साथ जड़ को भी उखाड़ दिया जाय तो फिर नयी कोपलें किस पर लगेंगी ? (अतः जो शाश्वत, सांस्कृतिक धारा है, आध्यात्मिक साधना है, उसे तो हमें कायम रखना है,) परन्तु उस पर साम्प्रदायिक परंपराओं के अनुसार जो आवरण चढ़ाये जाते हैं, उनको बदलते जाना आवश्यक है । क्योंकि प्रत्येक सत्य का एक स्थायी रूप भी होता है जिसे बदलने की किसी भी युग में आवश्यकता नहीं पड़ती ।) यदि वह स्थायी रहने वाला रूप न हो, तो बदलने वाला रूप किस के सहारे टिकेगा ? इस प्रकार व्यावहारिक रूप में धर्म बदलता रहता है और मौलिक रूप में वह स्थिर रहता है ।

मौलिक धर्म



अहिंसा मौलिक धर्म है । वह बहिरंग नहीं होती, अंतरंग दृष्टि है । किसी भी युग में दूसरों को पीड़ा देना, दूसरों को सताना, दूसरों को मारना, दूसरों का शोषण करना, दूसरों के अधिकारों को छीनना धर्म नहीं हो सकता ।

जैसे शरीर बदलते रहने पर भी आत्मा नहीं बदलती, वह किसी भी परिस्थिति में अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं छोड़ती, चाहे वह

संसार से रहे या मोक्ष में जाय जाये वह मनुष्य-जीवि में रहे या मनु-
जीवि में जाय (आत्मा तो आत्मा ही रहेगी इसी प्रकार अहिंसा धर्म
ही आत्मा है।) उसके मौखिक रूप में किसी भी समय और किसी
भी परिस्थितिबद्ध किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। अतः
धर्म को समझने के लिए अहिंसा को महीनादि समझना आवश्यक है।

आतमीर में जीवनधर्म अहिंसा को प्रधान स्थान देता है। अतएव
जीवनधर्म का अर्थवादाते ही अहिंसा धर्म का जाती है। इसी प्रकार
अहिंसा का अर्थवादाते ही जीवनधर्म की याद का जाती है।

अहिंसा का तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। इसलिए उसके विवेचन में हमें
अपना दृष्टिकोण बहुत ही अनुमिष्ट रखना होगा। अल्पवा हमारे
मन में आन्तरिक धर कर बाएवी। अतएव इन उसके स्पष्ट रूप को ही
देखें। अल्प रूप में नहीं आये तो उनकी यह में पहुंचना संभव नहीं
होता।

हम यह जानना चाहिए कि हिंसा किन्तु प्रकार की है। जीवन
धर्म में हिंसा के एक नहीं अनेक नहीं अंतर्भव नहीं बल्कि अल्प
जैव बनाव है। कोई आरभी समुद्र के किनारे खड़ा है और वह स्वार
जाते के समय समुद्र की लहरों को गिनना चाहता है तो क्या उन
लहरों को गिनना संभव है? इसी प्रकार यह साध सत्ता एक अवाह
समुद्र की गति र्णना हुआ है। अतएव सत्ता के एक किनारे खड़ा
होकर देख कि उसमें हिंसा कहा है और कैसे हो रही है। तो वह बड़े
पुर्णत पक्ष नहीं बाएया। हम समुद्र में अतिवक्त विभिन्न विचारों
का स्वार बाएया बटना रहता है और हमारी लहरें हिमोरे बाए करती
हैं। अतएव तो बहुत दूर की बाए है। हम अपने मन को ही हैं। इस
मन में ही विन-राल अतिवक्त भावना की लहर बटती रहती है। अत

समय ऐसा मालूम होता है कि हमारा मन मानो एक असीम समुद्र बन गया है ।

वधन का रूप



(इस आत्मा के साथ हिंसा का वधन जब होता है, तब आत्मा में कपन उत्पन्न होता है, हलचल होती है और उस हलचल के साथ क्रोध, अहंकार, दम एव लोभ के संस्कार जागृत होते हैं ।) जब आत्मा में ये संस्कार नहीं रहते, हलचल नहीं होती, तब हिंसा का वधन भी नहीं होता । जब मन, वाणी और शरीर में कपन नहीं होता तब आत्मा पूरी तरह शान्त और स्थिर हो जाती है । उस स्थिर अवस्था में समुद्र का ज्वारभाटा जैसे बन्द रहता है, उसी तरह हमारे मन की भावनाएँ भी बन्द रहती हैं । किन्तु इस मन के कपन को गिनना हर किसी के लिए संभव नहीं है और जब मन का कपन गिना नहीं जा सकता तब हिंसा के भेदों की भी गणना कैसे की जा सकती है । फिर भी स्थूल रूप में हम यदि गिनने के लिए बैठें तो सबसे पहले हिंसा के तीन रूप हमारे सामने आयेंगे । सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ । हिंसा के विचारों का आरम्भ होना सरम्भ है, हिंसा के लिए सामग्री जुटाना समारम्भ है और फिर प्रारम्भ से लेकर अन्त तक हिंसा की क्रिया करना आरम्भ है । इस प्रकार हिंसा के तीन भेद हुए । अब देखना चाहिए कि हिंसा के जो सकल्प या प्रयत्न किये जाते हैं, उनके क्या कारण हैं । अतः हृदय की दूषित भावनाएँ ही हिंसा को प्रेरित करती हैं । वे दूषित सकल्प ही हिंसा के लिए प्राथमिक सामग्री हो जाते हैं और अन्त में उन्हीं सकल्पों से बल पाकर हिंसा की क्रिया आरम्भ की जाती है । मन की अथवा आत्मा की वे दूषित भावनाएँ चार भागों में बाँटी जा सकती हैं । क्रोध, मान, माया और लोभ ।

हठार में रहे वा मोक्ष में जाय जाहे वह मरणा-मोक्ष में रहे वा नष्ट मोक्ष में जाय (आत्मा तो आत्मा ही रहेगी) वही प्रकार अहिंसा धर्म की आत्मा है।) उसके मोक्षिक रूप में किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिबद्ध किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतः धर्म को समझने के लिए अहिंसा को बखी-बांझ समझना आवश्यक है।

आसतौर से जीवनधर्म अहिंसा को प्रधान स्थापित होता है। अतः जीवनधर्म का प्रथम आने ही अहिंसा मात्र का जाती है। इसी प्रकार अहिंसा का प्रथम विस्तार ही जीवनधर्म की मात्र का जाती है।

अहिंसा का शास्त्र बहुत सूक्ष्म है। इसलिए उसके विवेचन में हमें अपना दृष्टिकोण बहुत ही समुचित रखना होगा। सम्भवता हमारे मन में छान्तिपूर्ण धारणा आयेगी। अगर हम उसके स्वरूप को ही देखेंगे शुद्ध रूप में वही धारणा तो समझी तब में पहुँचना संभव नहीं होगा।

हमें यह जानना चाहिए कि हिंसा किन्तु के प्रकार की है। जीवन धर्म में हिंसा के एक नहीं अनेक नहीं अस्तित्व नहीं बल्कि अनन्त स्वरूप बनाया है। कोई आसानी समुद्र के किनारे खड़ा है और वह ज्वार भाटे के समान समुद्र की लहरों को बिनागा चाहता है तो क्या वह लहरों को बिनागा संभव है? उसी प्रकार वह शास्त्र संसार एक अनेक समुद्र की भाँति फैला हुआ है। किन्तु संसार के एक किनारे खड़ा होकर देख कि उसमें हिंसा कहाँ है और क्यों हो रही है, तो वह उसे दूरतः पकड़ नहीं पाएगा। इस समुद्र में प्रतिपक्ष विभिन्न विचारों का ज्वार भाटा उठता रहता है और उनकी लहरें हिंस्रों के साथ कटती हैं। अतः तो बहुत दूर की बात है हम अपने मन को ही लें। इस मन में ही विष-मातृ प्रतिपक्ष भावना की लहरें उठती रहती हैं। फल

है, यदि हम किसी भी प्राणी को स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन की प्रगति करने से रोकते हैं, तो हिंसा के भागीदार बन जाते हैं।)

प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य अपनी जिदगी में हरकत तो करता ही है। वह चलता है, खाता है। इस तरह कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में दूसरे जीवों के गन्तव्य मार्ग में रुकावट पैदा हो ही जाती है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि आखिर हम किस प्रकार अहिंसक रह सकते हैं? केवल गृहस्थ ही नहीं, बल्कि ससार से पूर्णतः निवृत्त साधु भी इन क्रियाओं के कारण दूसरे जीवों की स्वतन्त्रता में बाधक बन सकते हैं। कल्पना कीजिये कि साधु के जल से भरे पात्र में मक्खी गिर जाती है। उसे निकालना तो पड़ेगा ही, निकालते समय उसे कष्ट भी होगा। ऐसी स्थिति में क्या किया जाए?

मान लीजिये, एक प्राणी है और घूप में पड़ा है। अपग होने के कारण वह इधर-उधर नहीं जा सकता। आप उदारतावश उसे घूप से उठाकर छाया में रख देते हैं। इस तरह उस प्राणी को मरने से बचा लेते हैं, (किन्तु शास्त्र में तो लिखा है कि किसी जीव का एक जगह में दूसरी जगह रख देना भी हिंसा है।) लेकिन यह सोचने का सही तरीका नहीं है। यदि इसी दृष्टि से विचार किया जायेगा तो फिर कहीं पर रखने को भी जगह नहीं मिलेगी। फिर तो मनुष्य का जीना ही हिंसामय हो जायेगा। आखिर श्वास की हवा से भी तो सूक्ष्म जन्तुओं की स्वतन्त्र गति में बाधा पड़ती है।

क्रिया और भावना



भगवान् महावीर छ मास तक हिमालय की तरह अचल खड़े रहे। किन्तु उसके बाद वे भी भोजन के लिए इधर-उधर गए।

हिंसा के मूल में ये चार दूषित संकल्प ही हैं जो हमें वापस आकर हिंसा के लिए अनुमति करते हैं। इन दूषित संकल्पों का रंग मिटना अधिक पहलू होना चाहती ही हिंसा भी अधिक बढ़ती होती। जब इन दूषित संकल्पों से घेरित होकर ही हम अपने सामाजिक स्वभाव को मूल पाते हैं। मन, बचन और शरीर तीनों पर से निर्बन्धन सभी दृष्टा हैं जब दूषित संकल्प बलवान बनते हैं।

हंस्न सकारण और आरम्भ इन तीनों को बीच माना जाता और जोड़ इन चारों के साथ गुनन करने से हिंसा के बाध में बन जाते हैं और इन बाध में से ही मन, बचन और शरीर इन तीनों कावनों के साथ गुनन कर देने से हिंसा के उत्पन्न में हो जाते हैं। फिर स्वयं करना सुखी के करना और अनुमोदन करना इन तीनों को ही हिंसा होती है। इसलिए इनके सभी पूर्णतः उत्पन्न में से ही को दूषित कर देने से हिंसा के एक ही माठ में बन जाते हैं। इन एक ही माठ में से ही हिंसा होती है। जब एक ही माठ में ही को रोक्ने के लिए हमें निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। जब हम इस संघर्ष में विजयी हो जाते हैं तब हिंसा के धारे हुए बन जाते हैं और अहिंसा का स्वभाव आता-जाता हमारे चारों ओर फैल जाता है। हिंसा की दूषित मन में से जब इन अहिंसा के पुनर्निर्माण में पहुँचने हैं तब एक अनिर्वचनीय स्थिति की अनुभूति होती है।

अनन्य हिंसा और अहिंसा के विवेचन में पहुँचता है। यह सब बहुराई की समझने के लिए साधक की अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक की सत्ता बलवान रखने के लिए आदेश देता है। इस धारे विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिंसा का अर्थ केवल मारना ही नहीं है (बल्कि मन में आया हुआ अत्यंत दूषित संकल्प हिंसा है, जिसे भी सभी की स्वतन्त्रता में आधा पैदा करना भी हिंसा

लिए जाने वाले आहार को हम पापमय कहेंगे तो वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना जायेगा। इसलिए जैन धर्म वाह्य क्रियाओं के करने या न करने में कोई पुण्य-पाप नहीं मानता। यह पुण्य और पाप हमारे जीवन से अलग कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। पुण्य और पाप तो भावना के दो पहलू हैं। देखने के दो दृष्टिकोण हैं। अगर हम एक चीज को सही ढंग से देखते हैं, उसका सही इस्तेमाल करते हैं, उसके साथ न्याय करते हैं, तो वह पुण्य है और उसी चीज का अगर हम गलत इस्तेमाल करते हैं, दुरुपयोग करते हैं, उसके साथ अविवेक पूर्वक पेश आते हैं, तो वही पाप हो जाता है। इसलिए पुण्य और पाप हमारे दृष्टिकोण की विषमता के अलावा और दूसरी चीज नहीं है। वह तो हमारे आँखों के अन्दर ही रहने वाली चीज है। एक ही दृष्टि में पर भी पड़ती है, बहन पर भी पड़ती है और पत्नी पर भी पड़ती है, लेकिन एक समय वह दृष्टि वात्सल्य चाहती है, दूसरे समय में वह दृष्टि प्रेम चाहती है और तीसरे समय वही दृष्टि भोग चाहती है। एक ही दृष्टि तीन स्थानों पर तीन रूप ले लेती है। अतः हमें यह कहना होगा कि नारी पाप की चीज नहीं। या नारी नक का द्वार नहीं। नारी एक पवित्र चीज है। हम उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इसी पर पाप और पुण्य, नर्क या स्वर्ग का द्वार अथवा अच्छाई या बुराई, निर्भर करती है।

प्रमादवश यह सारी चीज उत्पन्न होती है। अगर हम हिंसा के दृष्टिकोण को और अहिंसा के दृष्टिकोण को एक ही शब्द में व्यक्त करना चाहें, तो कह सकते हैं कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है, अथवा विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है। इस बुनियादी तत्त्व को जब हम समझ लेंगे तब हमें अहिंसा के बारे में पर्याप्त दृष्टि मिल जाएगी और जब तक इन दोनों के रूप में बुनियादी तत्त्व को नहीं समझेंगे, तब तक हिंसा और अहिंसा के विक्षेपण में हम चक्कर लगाते रहेंगे, किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुँच पाएंगे।

महीने हो गहीने अधिक-से-अधिक छः महीने भी उपरवा में बिताये जा सकते हैं। किन्तु जीवन को सामान्य रखने के लिए समान आचरण किए बिना तो कुछ भी नहीं हो सकता। जब यह स्थिति हमारे सम्मुख है तो हम विचार करना चाहते हैं कि हिंसा और बहिष्कार के बीच सम्बन्ध-रेखा कौन-सी है? वास्तव में किसी भी हस्तक्षेप के साथ हिंसा वा सम्बन्ध नहीं है। हम पहले ही कई बार यह स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी भी हस्तक्षेप की हिंसा न कहकर उनके पीछे जो दूषित सम्बन्ध है वो बहुत आचर्य है वा वो न्याय भाव है वह हिंसा है और नहीं पाप भी है। इसलिए नरसिंह जी बुद्धि से विवेक पूर्वक यदि किसी प्राणी को हठ-हठ-हठ दिया जाय उनके सम्बन्ध-रेखा में अवरोध किया जाय तो वह हिंसा नहीं है। यदि बुद्धि मुख है तो नहीं भी पाप नहीं है। नहीं जान जाने-पीने के सम्बन्ध में भी है। मृत्यु जाने-पीने में पाप नहीं किन्तु जाने-पीने के पीछे बुद्धि क्या है वह देखना होता। यदि जाना केवल जाने के लिए वा स्वाद के लिए ही है तो वह मात्रा हिंसात्मक है। यदि जाने के पीछे विवेक है जगता है पीने के लिए जाना है और लाकर समाज की सेवा करने का सम्बन्ध है तो ऐसा जाना बर्त है। जब उपरवा है या जाना? यदि छ महीने तक उपरवा की और फिर एक दिन भोजन किया तो वह भोजन बर्त है या पाप? यदि भोजन नहीं करने तो उपरवा पीने करने? और यदि उपरवा कर के भोजन करना पाप है, तो फिर माधवा-नच पर जाने के पहले ही दिन माजीकल भोजन करने का परित्याग कर देना चाहिए। जगत् सभी बुद्धिजीवी से सोचने पर ऐसा लगता है कि (आत्म-विचार भी मजिल तक जाने के लिए उपरवा की आवश्यक है और बाह्य की आवश्यक है। जब उपरवा की उपयोक्ति हो तब उपरवा बर्त है और जब बाह्य की उपयोक्ति हो तब बाह्य करना बर्त है।) इसलिए जबमात् महावीर ने जब उपरवा की तब भी उन्हें बर्त हुआ और जब बाह्य बहुत किया, तब भी उन्हें बर्त हुआ। यदि उपरवा के बाद

लिए जाने वाले आहार को हम पापमय कहेंगे तो वह बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना जायेगा। इसलिए जैन धर्म बाह्य क्रियाओं के करने या न करने में कोई पुण्य-पाप नहीं मानता। यह पुण्य और पाप हमारे जीवन से अलग कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। पुण्य और पाप तो भावना के दो पहलू हैं। देखने के दो दृष्टिकोण हैं। अगर हम एक चीज को सही ढंग से देखते हैं, उसका सही इस्तेमाल करते हैं, उसके साथ न्याय करते हैं, तो वह पुण्य है और उसी चीज का अगर हम गलत इस्तेमाल करते हैं, दुरुपयोग करते हैं, उसके साथ अविवेक पूर्वक पेश आते हैं, तो वही पाप हो जाता है। इसलिए पुण्य और पाप हमारे दृष्टिकोण की विपमता के अलावा और दूसरी चीज नहीं है। वह तो हमारे आँखों के अन्दर ही रहने वाली चीज है। एक ही दृष्टि मा पर भी पड़ती है, बहन पर भी पड़ती है और पत्नी पर भी पड़ती है, लेकिन एक समय वह दृष्टि वात्सल्य चाहती है, दूसरे समय में वह दृष्टि प्रेम चाहती है और तीसरे समय वही दृष्टि भोग चाहती है। एक ही दृष्टि तीन स्थानों पर तीन रूप ले लेती है। अतः हमें यह कहना होगा कि नारी पाप की चीज नहीं। या नारी नक का द्वार नहीं। नारी एक पवित्र चीज है। हम उसे किस दृष्टि से देखते हैं, इसी पर पाप और पुण्य, नर्क या स्वर्ग का द्वार अथवा अच्छाई या बुराई, निर्भर करती है।

प्रमादवश यह सारी चीज उत्पन्न होती है। अगर हम हिंसा के दृष्टिकोण को और अहिंसा के दृष्टिकोण को एक ही शब्द में व्यक्त करना चाहें, तो कह सकते हैं कि प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है, अथवा विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है। इस बुनियादी तत्त्व को जब हम समझ लेंगे तब हमें अहिंसा के बारे में पर्याप्त दृष्टि मिल जाएगी और जब तक इन दोनों के रूप में बुनियादी तत्त्व को नहीं समझेंगे, तब तक हिंसा और अहिंसा के विदलेपण में हम चक्कर लगाते रहेंगे, किसी निश्चित परिणाम तक नहीं पहुँच पाएंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति



महिता कर्म के साथ जो निरन्तर जुड़ा हुआ है उसे देखकर सामान्य लोग और कभी-कभी कुछ विद्विष्ट विचारक भी भ्रम में पड़ जाते हैं। वे समझ बैठते हैं कि महिता कर्म निरन्तरात्मक है और इसीलिए महिता निवृत्ति-रहित है। इस भ्रम में जानेक विशेष पैदा किसे और साथ ही भ्रम के कारण जनेक लोग चक्कर के पड़ जाते हैं। अतः महिता की निरन्तरता कहते समय यह समझना नितांत आवश्यक है कि महिता केवल निवृत्ति की ही वृत्ति है या उसमें कहीं प्रवृत्ति भी है ? अगर इस बुनियादी प्रश्न को हम नहीं समझेंगे तो महिता की वास्तविकता से बहुत दूर चटक जाएंगे ।

महिता क्या है ? वस्तुतः क्या यह संसार से अलग-थलग अकेली खड़ी है ? क्या उसका संसार के जीवन के कोई सम्बन्ध नहीं है ? क्या सामाजिक जीवन की अवस्थाओं के प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है ? यदि वस्तुतः महिता समाज के लिए, इस संसार के लिए और इस जीवन के लिए उपयोगी साधित नहीं होती है तो उस महिता का पालन इस समाज में और इस जीवन में करने का कोई तुक नहीं रहता । महिता का सामक बरि इस जीवन की या इस समाज की प्रवृत्ति में कोई भाग ही नहीं है सम्भवा तो फिर कहे इस समाज में रहने का अधिकार भी है या नहीं ? यह बुनियादी प्रश्न कहा हो सकता । महिता की स्थापना करने वालों को इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देना होता और यदि इन प्रश्नों का उत्तर देने में महिता की

साधना करने वाले थोड़ी-बहुत भी आनाकानी करते हैं, तो आज के विज्ञानवाद के युग में रहने वाला मानव उनकी अहिंसा को स्वीकार नहीं करेगा।

जो अहिंसा कम-अंध्र से अलग हो जाती है, जो अहिंसा निष्प्रिय होकर हर जगह में भटकना ही चाहती है, जो अहिंसा प्रवृत्ति से डरकर कोने में दुबक जाती है, जो अहिंसा अपने आपको सामाजिक जीवन से अलग मानती है, वह अहिंसा किसी भी रूप में उपयोगी नहीं हो सकती।

कोरी निवृत्ति की बातें और निवृत्ति के सिद्धांत सुनने में मीठे लगते हैं। ऊपर-ऊपर से भले प्रतीत हो सकते हैं किन्तु अगर हम गहराई में जाकर सोचेंगे कि जबतक जीवन का ज्ञान और जीवन की दृष्टि नहीं मिलती, तब तक अहिंसा का कोई उपयोग नहीं है। उस समय हमारी आखें खुल जाएंगी और हम कोरी निवृत्ति के पीछे पागल होकर दौटना बन्द कर देंगे।

हमारे कुछ साथी कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ नहीं रह सकती। दोनों की दिशाएं दो हैं, दोनों के स्वभाव दो हैं। जैसे दिन और रात एक साथ नहीं रह सकते, जैसे गरमी और सर्दी एक जगह नहीं रह सकती, उसी तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति भी एक साथ नहीं रह सकतीं। किन्तु यह दृष्टि भ्रामक है और ये उदाहरण भी असतुलित हैं। अहिंसा के अनेक पहलू हैं, अनेक अंग हैं और अनेक अंश हैं। इसलिए प्रवृत्ति में भी अहिंसा हो सकती है और निवृत्ति में भी अहिंसा हो सकती है। अहिंसा में ये दोनों पहलू सदा एक साथ रहते हैं। एक कार्य में प्रवृत्ति, दूसरे कार्य में निवृत्ति हो सकती है, यह हम क्यों भूल जाते हैं ? यदि किसी निवृत्ति के साथ कोई प्रवृत्ति नहीं करते हैं तो उस निवृत्ति का कोई भी मूल्य नहीं है।

स्वच्छ रहने की बात है कि निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नहीं है । अगर निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता हो या ज्ञान से निवृत्त हो जाना हो या जीवन के प्रगम के प्रति उत्साहभाव रहना हो तो हमें यह निवृत्ति स्वीकार्य नहीं है ।

साधु के जीवन में दो प्रकार की मर्यादाओं का उल्लेख है । तथिति और वृत्ति । तथिति की मर्यादाएँ प्रवृत्ति-मूलक हैं और वृत्ति की मर्यादाएँ निवृत्ति-मूलक हैं । यदि अहिंसा का अर्थ केवल निवृत्ति ही है तो तथितियों का उल्लेख उनका विवेचन और उनका निरूपण क्यों किया जाता ?

दोनों समान



जीवन के क्षेत्र में पाड़े बाध हो या बाधक—दोनों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति समान रूप से आवश्यक हैं । अतः बाधरूप के निवृत्त होना और अतः बाधरूप में प्रवृत्त होना कौन स्वीकार नहीं करेगा ? सेवा करो प्रेम करो दया करो उपहार करो—ये सब करने के काम हैं । यदि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति सहानुभूति न रखे दूसरों के कष्टों में काम न लगे दूसरे की सेवा के लिए उत्तर न दे तो यह बीछा जायगी है ?

कुछ सम्प्रदायों में या कुछ विचार-परम्पराओं में अहिंसा की अस्मिता की अखण्ड संतुष्टि क्षेत्र में सीधे बिना रखा है । किसी की तरफ़ की सामाजिक प्रवृत्ति को और सामाजिक सेवा की, सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का नाम देकर उसे नाम मिला जाता है और अखण्ड दूर रहने की प्रेरणा दी जाती है । लेकिन इन संतुष्टि विचारों में

अहिंसा की खोज करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि अहिंसा सामाजिक जीवन की रीढ़ है। यदि सामाजिक जीवन टूट जायेगा, यदि सामाजिकता के टुकड़े हो जाएंगे तो कहा तक यह अहिंसा टिकेगी? कहा यह घम टिकेगा? और कहा ये प्रवृत्ति-निवृत्ति के सिद्धान्त टिकेंगे? इसलिए इन सबसे ऊपर जो तत्त्व है, वह समाज है, समाज को घुरी मानकर ही हम उसके आस-पास की भूमि तैयार करते हैं और समाज को बलवान् या सुदृढ़ बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। यदि उन मर्यादाओं की रक्षा के लिए हम मूल तत्त्व का विनाश कर बैठेंगे, तो वे मर्यादाएँ क्या काम आयेंगी?

विज्ञान और मनोविज्ञान के अनेक अन्वेषकों ने यह साबित कर दिया है कि मनुष्य बिना समाज के, अकेला नहीं रह सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से बल पाता है, समाज से जीवन पाता है और समाज से दृष्टि पाता है। इसलिए समाज को वापिस कुछ-न-कुछ देना यह उस मानव का कर्तव्य है। अगर कोई भी मानव अपने इस कर्तव्य से मुकरता है या च्युत होता है या दूर भटकता है, तो वह न केवल समाज के साथ बल्कि अपने-आपके साथ भी अन्याय करता है।

हृदय हीनता



जब इन्सान पर इन्सान हावी हो रहा हो, जब चारों ओर हिंसा, वैमनस्य तथा शोषण का दमन-चक्र चल रहा हो, जब समाज में अज्ञान, दम, दरिद्रता और बीमारी का प्रचण्ड प्रकोप फैले हो, तब यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मैं तो अहिंसक हूँ, तटस्थ हूँ, निवृत्ति-परायण हूँ, मुझे इस समाज की हीनअवस्था से क्या सरोकार है?

तो यह कहने वाले की हृदय-हीनता के अभाव में और कुछ नहीं है। न तो उसके मन में अहिंसा की भावना है न उसने अहिंसा के सत्य की पहिचान है और न वह अहिंसा के मार्ग का राही है। वह या तो पावर है या आत्मता है या मित्रिय है या मूर्ख है। जिसके हृदय में बलता है जिसके हृदय में बल है जिसके हृदय में प्रेम है वह व्यक्ति समाज में अन्ध-ही-अन्ध मुलमने वाली यह अंधेकर भाव को देख नहीं सकेगा और उसे बुझाने के लिए प्रयत्न करेगा अज्ञेय करेगा वाली प्रवृत्ति करेगा। समाज के छत्र छोन हिता बोधन और अज्ञान के कारण बलिष्ठ हो रहे हैं बलवान्नी बन रहे हैं और उन समय कोई अकेला व्यक्ति बड़ा होकर के कहे कि मुझे यह समझ से कुछ भी केना-बेना नहीं है मैं तो एकान्त अहिंसा की साधना के लिए जा रहा हूँ तो वह ऐसा बहकर अपने मन की बोधन देगा है और अपने सामाजिक वर्तमानों की पृष्ठभूमि के नीचे गिरता है।

कल्पना कीजिये कि एक छोटी नदी के किनारे बगटे-बगटे फिक्क बग और नदी की ठेक बाग में खड़े बग। यह बग यह बग यह बाग का पुराना बाग-छाया क्या करे? यदि वह पानी के अविष्ट होता है तो बग के अहम बागों की हिता होती है और अगर वह नदी के अविष्ट होकर अपने छाया-छाया को बचाता नहीं है तो बग बाग के बाग की बग है। यह बग के किनारे बग बाग क्या निर्णय करे? बग क्या वर्तमान है? जो मित्रिय-मित्रिय की यह बग है, वे तो बाग बग कहने कि यह बाग को बग की कीर्ति नहीं करने चाहिए, किन्तु बगवान् महावीर ने यह बाग बग है कि यह यह बग की बग बग बग बग हो तो दुर्बल-बग बाग या बाग की बग-छाया पुरानी चाहिए। अज्ञेय होकर बग नहीं रहता चाहिए बलिष्ठ पानी के पुष्कर की दुर्बल-बग बाग या बाग की बाग-छाया करने चाहिए।

यदि कोई प्राणी हमारे सामने मर रहा है तो हम, समझते हैं, अपने शरीर पर काबू कर लें और उस मरने वाले प्राणी को बचाने की कोशिश न करें। किन्तु ऐसे अवसर पर उस प्राणी के प्राणों को रक्षा करने का मानसिक सकल्प तो अत्यन्त स्वाभाविक है। लेकिन फिर भी यदि हम उन सकल्पों की उपेक्षा करते हैं तो हमारे मन की दया कुचली जाती है और इस प्रकार अपनी आत्म हिंसा का शिकार होना पड़ता है।

जब अन्तःकरण में कण्ठा जगती है तब मनुष्य भाव-विभोर होकर गद्गद् हो जाता है। उस समय पुराने पाप-कर्म नष्ट होते हैं और नये शुभ कर्मों का वर्धन होता है।

सामाजिक-साधना



यह प्रश्न काफी विवादास्पद है और इस प्रश्न पर अनेक तरह के मत-भेद भी हो सकते हैं अथवा इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कई तरह के तर्क उठ सकते हैं। परन्तु हम अपनी अघश्रद्धा से ऊपर उठकर यदि आज की दुनिया को ध्यान में रखकर सोचेंगे और आज की समस्या के समाधान के लिए विचार करेंगे तो हमें रास्ता साफ दिखाई देगा और हम यह स्वीकार कर लेंगे कि मानवता की सेवा के लिए, सामाजिकता को अखण्डित रखने के लिए, न्याय और सत्य की रक्षा के लिए, गरीबी, अज्ञान और शोषण को दूर करने के लिए हर प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिए और वह प्रवृत्ति अहिंसा है, सामाजिक साधना है, इसीलिए धर्म भी है।

बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि घर में झाड़ लगाना, वस्त्र धोना, चक्की पीसना, भोजन पकाना इत्यादि कार्य हिंसाजनक होने

के कारण स्वामी है । तावत् की मुद्रिका को ठीक तरह समझे बिना हमने स्पष्ट कर ले एकान्त ध्यान कह बाजना उचित नहीं है । यदि ध्यान की बाजी को हम किसी पद्धति से नहीं बिछा देना चाहते हैं तो हमें बाहर के सब्ज बातावरण पर आधारित हिंसा अहिंसा के इन संशुद्धि धारों के बाहर निकलना चाहिए और जो हमारे मन में हिंसा की भांति चुनी हुई है उसे दूर करने की कोशिश करनी चाहिए । एक व्यक्ति घर में खाना नहीं बकाना बचना लाड़ नहीं खाना लेकिन दिनभर कुत्ता के बैठकर रोयल करता खेवा या बाहरों के साथ मुत्तावाडोटी का व्यवहार करता खेवा तो क्या वह बाग अहिंसा की भावना के साथ नहीं फिर बैठती है ? तबही तो यह है कि अहिंसा प्रवृत्ति और निवृत्ति से कतनी सम्बन्धित नहीं है । निगनी प्रवृत्ति और निवृत्ति के तर्कों से बचना इसके पीछे की भावनाओं से सम्बन्धित है । (जीन-वर्दन का मुख्य विचार इन सम्बन्ध से दिल्फुक्त स्पष्ट है । यह कहता है कि यदि हाथन बाधुत है तो यह हिंसा में भी अहिंसा की उपलब्धि कर सकता है । और यदि बाधुत नहीं है प्रकृत है तो यह अहिंसा के वातावरण में भी हिंसा का वातावरण उपस्थित कर देता है । मुख्य तत्त्व विशेष का है, किन्ना का नहीं । कोई भी विना हो मिलना विशेष है प्रकृत करने है ।)

मयी दृष्टि



इतिहास साक्षी है कि अहिंसा की मुख्यिक व्याख्याओं के कारण हमारे देश को बड़ी-बड़ी हाथियाँ बछली पड़ीं उसे मुक्त होना पडा और उसके अहित्य दर्शन तथा संस्कृति पर बनेक बड़े-बड़े कुत्ता-वात हुए । यदि अहिंसा के कारण हमारे मनों में बाधकता उत्पन्न होती है, तो ऐसी अहिंसा किन्ना ध्यान की ? बाग हाथ देश बने धिरे

से अपना निर्माण कर रहा है और चारों तरफ राष्ट्रवादी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही हैं। धर्म के, जाति के, सम्प्रदाय के छोटे-छोटे कटघरे टूट रहे हैं और विशाल वातावरण का निर्माण हो रहा है। उस विशालता के सदर्म में और नव-निर्माण के सदर्म में हमें अहिंसा के प्रतिपादन का पुराना तौर-तरीका छोड़ना होगा तथा नयी दृष्टि से संपूर्ण विषय पर अनुसंधान करना होगा।

यदि कोई ऐसा मानता है कि जीवन-सघर्ष की अथवा अन्याय से लड़ने की ताकत केवल हिंसा में ही है, तो वह भारी भ्रम में है। हम प्रवृत्ति-प्रधान अहिंसा के द्वारा यह सिद्ध कर के दिखा सकते हैं कि अहिंसा में भी असहयोग हो सकता है, लेकिन वह असहयोग विनयपूर्वक होगा। अहिंसा में भी आग्रह हो सकता है, लेकिन वह आग्रह हठाग्रह नहीं, बल्कि सत्याग्रह का रूप धारण करेगा। अहिंसा के जरिए सघर्ष और मुकाबला भी किया जा सकता है, लेकिन उसके हथियार तोप और बंदूक नहीं बल्कि प्रेम और सद्भाव होंगे। यह सारी प्रवृत्ति हैं। इस प्रवृत्ति से डरना उचित नहीं। हमें प्रवृत्ति करते समय अपनी मर्यादाओं का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, (लेकिन समाज की सेवा और समाज के निर्माण से बढ़कर अहिंसा के लिए और कोई ऊँचा आदर्श नहीं हो सकता। जीवन और समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति में अहिंसक दृष्टिकोण पैदा करना है।)



क्या अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ?



अहिंसा के सम्बन्ध में बनेक प्रकार के प्रश्न और भ्रम प्रचलित हैं। जब तक हम जर्मों का भुर्खटा निराकरण न हो तब तक अहिंसा को हम ठीक तरह से समझ नहीं सकते और न समझा जाय सदा तकै। अहिंसा के बारे में जो सबसे बड़ी बात कही जाती है वह यह है कि अहिंसा एक अच्छी चीज होते हुए भी साधारण जीवन में व्यावहारिक है। वाणी यह जीवन के रोजमर्रा के व्यवहार में उपयोगी नहीं है।

ऐसा कहकर के अहिंसा की उपयोगिता को नष्ट कर दिया जाता है क्योंकि चाहे कौसी भी अच्छी चीज हो उसका फलना ही मूल्य हो; फिर भी यदि वह जीवन में उपयोगी नहीं है तो उसको अपनाने से क्या फायदा ? किसी भी विज्ञान की कसौटी उसकी व्यावहारिकता पर ही निर्भर है। अतः हम इस प्रश्न की अच्छी तरह से समझना चाहते हैं कि क्या लक्ष्यपुर में अहिंसा व्यावहारिक नहीं है ? अगर हमें किसी भी क्षण यह समझ में आ जाय कि अहिंसा एक व्यावहारिक विज्ञान है, अर्थात् यह एक साफ़-सुथरा बीजा तत्त्व है तो हम उसे बिना किसी हिचक के सब धर में छोड़ देंगे; क्योंकि यह विज्ञान हमारे काम का नहीं होगा। परन्तु यदि अहिंसा ही जीवन का स्वभाव स्थापित हो और ऐसा अनुभव हो कि बिना अहिंसा के काम ही नहीं चल सकता तब तो अहिंसा के सम्बन्ध में हम और अधिक तीव्रता के साथ विवेचन करेंगे और उसका प्रचार करेंगे।

एक मोटर ड्राईवर जब लम्बे सफर पर निकलता है तो रास्ते में अनेक प्रकार के गड्ढे, क्षाब्धिया, रोडे, बच्चे, बूढ़े इत्यादि मिलते हैं। यदि वह ड्राईवर अपने काम में कुशल हो तो अवश्य ही इन सबसे अपनी कार को बचाते हुए चलेगा। और अगर वह कुशल ड्राईवर नहीं है तो रास्ते में अनेक एक्सिडेंट करते हुए परेशानी का सामना करेगा। ठीक इसी तरह से जीवन भी एक लम्बा सफर है। इस लम्बे सफर में अनेक व्यक्तियों के साथ, अनेक परिस्थितियों के साथ और अनेक बाधाओं के साथ मनुष्य को पेश आना पड़ता है। अगर उस मनुष्य की वृत्ति अहिंसा परायण है, तब तो वह इन प्रतिकूलताओं से बचता हुआ चलेगा। यदि कहीं किसी के साथ उलझ भी गया तो वह उस परिस्थिति को सुलझाकर शांति के साथ आगे बढ़ जायेगा। किन्तु अगर उसकी वृत्ति हिंसा प्रधान होगी तो वह सबके साथ बिना किसी मतलब के उलझता रहेगा, झगड़े करता रहेगा, परेशान होता रहेगा और अपने को अशांत बना डालेगा।

जीने की कला



जीवन जीने के लिए है। जो व्यक्ति आनन्द और सुख से जी नहीं सकता, उसका जीवन व्यर्थ ही है। अशांति, परेशानी, चिन्ता, दुख आदि से घिरा रहने वाला व्यक्ति जीवित भी मृत के समान ही है। अब हमें सोचना चाहिए कि जीवन सुखपूर्वक कैसे बीत सकता है। क्या किसी के साथ उलझने से, किसी के साथ झगड़ा करने से, किसी को कष्ट पहुँचाने से हमारे जीवन को आनन्द मिलता है? कभी नहीं। किसी दूसरे को कष्ट देने से हमारे ही मन को कष्ट पहुँचता है। किसी दूसरे के साथ उलझने से हमें ही परेशानी का सामना करना पड़ता है और इस तरह हमारा जीवन अशान्त एवं चिन्तातुर बन जाता है। किन्तु अगर हम प्रेम से, सौजन्य से, सद्भाव से समाज

ये जीने हैं। समाज की सेवा करने हैं। समाज में रहने वाले हमारे अनुजों के साथ सहवास रखते हैं। तो हमारा जीवन आनन्दमय और सुखमय बनना है। इन नीतियों और सहवास में एक ऐसी मुनानुमति होनी है। जो हमें चिरंतन सन्तोष का प्रसार दे वाली है।

अब समझिये कि एक व्यक्ति ने आपके घर में खोली की। अब हमको सुधारने के दो रास्ते हैं। एक तो यह कि उसे माघ नाम दीया जाय। उसे बैक में डाला जाय तथा उसे छंव दिया जाय। दूसरा यह कि अगर वह समाज में वीरित है तो उसका अपाव दूर कर दिया जाय। अगर वह समाज में अननुष्ट है तो उसका अपाव छोटा छोटा से बरक दिया जाय। अगर उसे कोई काम नहीं मिला है और ऐसी परिस्थिति में वह खोली करने के लिए मजबूर हुआ है तो उसे काम देकर समाज में इम्बल से जीने कायम बना दिया जाय। इन दोनों रास्तों में नीमता रास्ता अधिक व्यावहारिक और अधिक ठही है। वह सोचना चाहिए। बाहिर हमारी मजिद तो मनुष्य को सुधारने की ही है। उस खोर के हृदय को बरकम की ही है। इस मार-नीट के द्वारा हमका हृदय बरकम की जोषिय करते हैं। तो क्यों नहीं नीमता ही प्रत्यक्ष हृदय बरकम की जोषिय की जाय ? देड़ हाथ के काम पकड़ने की क्या बकरल ?

अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न



आज राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों में ही पूरी हिंसा का सहारा दिया जाता है। एक-दूसरे पर आक्रमण होता है। एक-दूसरे के विरुद्ध प्रोत्साहन होता है, एक दूसरे के विरुद्ध सामाजिक तैयारी होती है और किसी उम्मेद हुए प्रश्न पर कुछ भी छिद जाता है। फिर सारे प्रकार में कुछ के विचारों आवाज कटती है। सब सम्बन्धित

राष्ट्रो को सन्धि या समझौता करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। आखिर कोई-न-कोई समझौते का रास्ता निकाला जाता है। ऐसा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ हुआ है। कोरिया में, हिन्द-चीन में, लाओस में इत्यादि अनेक स्थानों में युद्ध प्रारम्भ हुए और आखिर में समझौता किया गया। स्वेज नहर के मामले को लेकर ब्रिटेन और मिश्र के बीच झगडा हुआ। फिर समझौता किया गया। इस तरह के कितने ही प्रश्न हैं। तब हमें इन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों पर हसी आती है। पहले युद्ध करना, फिर समझौता करना, फिर वात-चीत के द्वारा समस्या का हल करना, यह कहा का रास्ता है? क्यों न विवादास्पद प्रश्नों को सीधे वातचीत के द्वारा ही हल किया जाय?

लोग ऐसा समझते हैं कि हिंसा के रास्ते समस्या पर काबू पा लिया जाता है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। हिंसा से समस्या सुलझती नहीं है, दब सकती है। किन्तु यह दबी हुई समस्या फिर दुगने वेग के साथ उभरती है और अत्यधिक हानिकारक माबित होती है। यह निर्विवाद है कि ससार की आम जनता शांति से जीवित रहना चाहती है। वह रोज-रोज की तनातनी को पसन्द नहीं करती। उसे प्रेम चाहिए, मिश्रता चाहिए और सद्भावना चाहिए। (इसलिए आम जनता की चीज तो अहिंसा ही है) हिंसा तो कुछ चन्द लोगो के दिमाग का फितूर हो सकता है। जिनके पाम फौज है, पुलिस है, ताकत है, सत्ता है, राज्य है आदि। लेकिन जो चीज आम जनता की होती है, वही चीज स्थायी और प्रामाणिक होती है। हम रोज के जीवन में देखें। परिवार के साथ, मित्रों के साथ, गाव के साथ, समाज के साथ हमारे जो सम्बन्ध हैं उनमें हिंसा ज्यादा है या अहिंसा? निश्चय ही अहिंसा ज्यादा है।

जहा कहीं भी थोडी बहुत हिंसा फूटती है, वहा लोग महज ही उसे रोकने के लिए दौड पडते हैं। यदि अहिंसा अव्यावहारिक होती

बीर हिता उपादेय होती तो ऐसा कभी न होता । परन्तु अत्यन्त स्वाभाविक (बीर दूर्बलः आवाह्यारिः उत्पन्न अहिता उमा रेव ही है ।) अगर हमारे जीवन से यह उत्पन्न भिन्न बात तो हम अत्यन्त कबे न बचेंगे बीर समाज की घाटी एकठा किल्ल-भिच्छिल होकर दूर जावेगी । आज की कुछ भी समाज में ऐस बीर उपाय है यह अहिता के कारण ही है । हिता पशुता का उपाय है । सभी-सभी मनुष्य पशुता से मनुष्यता की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसके जीवन में है हिता बूझती जाती है बीर सांस्कृतिक चेतना का विकास होता जाता है । अहिता मानवता के सांस्कृतिक विकास की रेल है । अरु सांस्कृतिक विकास का जब अन्त्यकरण होता तब मानव समाज में हिता के बिना कोई स्वाय नहीं रहेगा । सर्वत्र जागरी बलवती समझीता बीर रेव से ही समाज का हक किया जावेगा । तब पुक्ति बीर जीव भी नहीं रहेगी तब हथियार बल के कारबाये भी नहीं रहेंगे तब किसी भी राष्ट्र को दुसरे राष्ट्र पर आक्रमण का भय नहीं रहेगा । आज की अरु उपाय प्रतिपक्ष अर्थ ही हथियारों के निर्माण पर बीर जीव की रीतारी में खर्च हो जाता है यह उपाय तब मानव के सांस्कृतिक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास के कार्यों पर खर्च होना ।

अध्यात्मता की बात है कि आज के अनेक वैज्ञानिकों ने बीर विचारकों ने इस बात के महत्त्व की समझ किया है बीर इतीव्य यूरोप जैसे देशों में भी अनु-गरीबों के शिक्षाक उत्पादक होते हैं समझ बनते हैं बीर आशोकन बचावे जाते हैं । जीव को विवटित करके तथा हथियारों को समुद्र में गहिर कर के मानव को निर्बल बना दिया आज इस तरह की बातें आज के कुछ बड़े राजनीतिज्ञ भी करने लगे हैं । हमें निश्चय ही ऐसी आवा करनी चाहिए कि अहिता की आवाह्यारिता पाएँ बीर से बिरु होवे नहीं है बीर बीर-बीर अहिता की प्रतिष्ठा बढ़ने वाली है ।

इस प्रकार विभिन्न पहलुओं से सोचने पर हम जिस नतीजे पर पहुँचते हैं, वह यही है कि अब संपूर्ण मानव-जाति के लिए सभी प्रकार की समस्याओं के हल के लिए अहिंसा का मार्ग ही सबसे अधिक व्यावहारिक है और यदि इस व्यावहारिक मार्ग को नहीं अपनाया जायेगा, तो समारं वचने वाला नहीं है। क्योंकि आज के विज्ञानवाद ने और आज की टेक्नालाजी ने जिस तरह से शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया है और जिस गति से वह आगे बढ़ रही है उसे देखते हुए मानवता का सहार होने के सिवाय और कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ता। परन्तु यदि मानव समय रहते समझ जायेगा, तो अहिंसा की व्यावहारिकता को स्वीकार करके, हिंसा से अपने आपको विमुक्त कर लेगा तो वह विज्ञान तथा प्रविधि का पूरा-पूरा लाभ उठा सकेगा।



वर्ण-व्यवस्था का मूल रूप

हिंसा के दो प्रकार हैं। अत्यन्त हिंसा और परोक्ष हिंसा। अत्यन्त हिंसा मनुष्य की समझ में आती या आती है। एक छत्रियवाले बीरों ने केन्द्र पांच इन्डियन बाके बीरों तक हिंसा कम और कैसे हुई, इसका आभासी से पता चल सकता है। किन्तु परोक्ष हिंसा का रूप बहुत सूक्ष्म व्यापक और दुःख है। जब और पूरा ध्यान भी नहीं आता। परोक्ष हिंसा की पहचान की सम्भन्धा अत्यन्त आवश्यक है। परोक्ष हिंसा को हम सामाजिक हिंसा कह सकते हैं, जिसमें बीरों की हत्या नहीं होती बल्कि सामाजिकता के आशापरम में व्यवधान पैदा होता है। सामाजिक हिंसा एक बड़ा-सा घन्टा उठीत होता है। किन्तु हिंसा के विविध रूप हैं और अल्प-अल्प असीमित प्रकार हैं। हम यों-यों पहचान से चिन्तन करने लगे-रही हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म एवं व्यापक रूप प्रकट होते जायेंगे।

समाज और सामाजिक जीवन क्या है ? समाज कैसे बना है ? जीवन के दुःखों की समाज नहीं रहते बल्कि लोगों की आत्माओं का एक ही समाज नहीं कहलता। सभी कृषि एक-एक व्यक्ति का सम्मिलित समुदाय है। इसे मानव-समुदाय कह सकते हैं। जब मानव समुदाय में आपसी व्यवहार पैदा हो आपसी सम्बन्ध बनुर हों या नहीं एक जाति का दूसरी जाति के साथ एक वर्ष का दूसरे वर्ष के साथ एक पांच का दूसरे पांच के साथ कहीं कृषि और वृद्ध का सम्बन्ध ही नहीं बल्कि

रहा है ? इस प्रकार की सामूहिक या समूह-विशेष के प्रति चल रही घृणा सामाजिक-हिंसा कहलायेगी ।

जातिवाद



विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी मूलतः एक हैं । कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता । आज मनुष्य जाति में जो अलग-अलग वर्ग दिखलाई देते हैं, वे बहुत कुछ कार्यों के भेद से या धर्मों के भेद से बने हैं । यदि उन धर्मों के आधार से बने हुए वर्ग आपस में टकराने लगें या सघर्ष करने लगें तो वह अहिंसा की परिधि से बाहर चला जायेगा । समाज बदलता है, युग बदलता है, परिस्थिति बदलती है । इसीलिए आज जातिवाद का सारा आधार भी बदल गया है । आज सहस्र खंडों में विभाजित मानव जाति पुनः एकता के सूत्र में बंधना चाहती है, इसलिए हम यह गौरव के साथ कह सकते हैं कि आज का मानव अहिंसा की ओर प्रगति करना चाहता है ।

वर्ण-व्यवस्था समाज के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए नहीं, बल्कि उसमें सुव्यवस्था कायम करने के लिए बनायी गयी थी । ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों का एक मात्र आधार उद्योग, धर्म या कर्तव्य था । समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही ये वर्ण स्थापित हुए थे । समाज को शिक्षित करने के लिए ब्राह्मण वर्ग स्थापित हुआ । 'किन्तु आज ब्राह्मण ऐसा समझता है कि मैं बहुत ऊँचा और पवित्र हूँ । शेष सभी मानव मुझसे नीचे हैं, अपवित्र हैं । ससार के साथ मेरा जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह देने का नहीं, सिर्फ लेने-ही-लेने का है । किन्तु वास्तव में इस मनगढ़त सिद्धान्त पर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नहीं हुई थी ।

सैसे बड़ी मझी छोटी मझी को निरुक्त जाती है, बड़ी प्रभाव
 ताकतवर, प्रतिभावान और क्षमिष्ठाकी सोच बहमनों का पोषण
 करने लगते हैं। (यदि क्षमिष्ठा सोच ग्याह और अग्याह को बड़ी
 तोकते भी हैं तो उनका तराजू अपनी बुद्धि होती है और बाट अपने
 स्वार्थ का होता है।) अपनी बुद्धि के तराजू से अपने स्वार्थ के बाटों के
 तोकने वाले ग्याह और अग्याह को अब समझ सकते हैं ? क्षमिष्ठाकी
 और अग्याहकी क्षमिष्ठियों के हाथों से यदि बहमनों और अनिश्चित
 मनुष्यों का पोषण होता रहा तो वह बाधनों का नहीं बल्कि बाधनों
 का हथियार होता। क्षमिष्ठाक्षमिष्ठियों द्वारा निर्दोषों का उत्पीड़न न हो
 उन्हें भी पीड़ित रहने का अधिकार मिले। उनकी भी प्रभुशक्ति रहा
 की बात। इस प्रयोजन के अन्वीय वर्ष की स्थापना हुई। अन्वीय वर्ष
 और सबका बुद्धिवा एका बहनों में बैठकर देख-बाधन करने के लिए
 गयी वा। अहिंसा इसलिये वा कि देख के किसी भी कोने में सब
 आत्माएँ हो और कोई एक वर्ष किसी बूढ़े वर्ष द्वारा बुद्धका बाधा
 हो तो अन्वीय अपने बाधों की बाधुति देकर भी रक्षा का उत्तरदायित्व
 ग्रहण करें।

वैद्य वर्ष की स्थापना बुद्धिवा का पोषण करके अपने ही नेट को
 मोटा बनाने के लिए वा अपनी ही सोच करने के लिए नहीं हुई थी।
 प्रवा के जीवन-निर्वाह की आन्वीय अन्वीय बुद्धका के अन्वीय होती
 रहे, अन्वीयों की प्रत्येक वस्तु अन्वीय बुद्धिवा के बाध मिलती रहे,
 इसके लिए वैद्य वर्ष नायक हुआ। इस कर्तव्य का आम्नायिका के
 बाध बाधन करने के बाद अपने और अपने परिवार के लिए वह
 अहिंसा आहिंसा के अन्वीय वा। वस्तु बाध तो वैद्य वर्ष पोषण
 का आम्नाय बना हुआ है। अन्वीय और अन्वीय के बीच अन्वीय
 बना हुआ है।

शूद्र वर्ग का कार्य भी बहुत महत्वपूर्ण था । समाज की सेवा करना, उसका कर्तव्य था । शूद्र वर्ग की स्थापना में किसी भी प्रकार की मानसिक सकीर्णता तथा हीन-भावना काम नहीं कर रही थी । यदि वर्ण-व्यवस्था कायम करते समय शूद्र वर्ग को किसी भी अर्थ में हीन माना गया होता तो फिर कौन इस वर्ण व्यवस्था में सम्मिलित होने को तैयार होता ? जैसे अन्य वर्ग समाज की सुविधा के उद्देश्य में कायम किये गए थे, उसी प्रकार यह वर्ण भी समाज की सुविधा के लिए ही बनाया गया था ।

कर्तव्य पराङ्मुखता



आज ब्राह्मण समाज इस बात को तो बड़े गौरव के साथ दोहराता है कि हम ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुए हैं । किन्तु इसके वास्तविक रहस्य को समझने का स्वप्न में भी प्रयत्न नहीं करता । इसी तरह क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने दायित्व को नहीं समझ रहे हैं । ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण आत्म-विद्या और आत्म-ज्ञान का प्रचार करें, उपदेश करें, अध्ययन करें । उसी तरह क्षत्रियों को चाहिए कि वे अपनी भुजाओं द्वारा अश-हायो, असमर्थों और दीनों का संरक्षण करें । वैश्य समाज का कर्तव्य है कि वह उदर से उत्पन्न होने के कारण कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग के द्वारा मानव समाज की रोटी की समस्या का हल करे । इसी तरह शूद्र वर्ग की भी यह जिम्मेवारी है कि वह समाज सेवा का व्रत ग्रहण करके अपनी सेवा से समाज को सुखी एवं स्वस्थ बनायें ।

अन्याय



आज शूद्र वर्ग के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह देखकर हृदय

तकपने लगता है। पूरे वर्ष के सोच ता दिन भर कड़ी मेहनत कर के समाज की सुविधा-से-सुविधा सेवा करते हैं और समाज के लोग उन्हें पास बैठना भी नहीं चाहते। आत्मदर्श की बात है कि बोठरों में कुत्ते और बिल्ली को तो बचह मित्र जाती है। किन्तु मानव-वेद-जाती बूढ़ को वह एक हाथिक नहीं है। ईशान को ईशान के पास बैठने का भी हक नहीं है। वर्म-स्वान में भी हरिजन को प्रवेश करने का बड़ी पूरी तरह से कुत्ते बाम अधिकार नहीं मिला है।

एक बूढ़ मात लीजिये कि किसी वर्म-स्वान में बहूना तो वा तो वहाँ छे प्रवेश ही नहीं मिलेगा वा फिर वहाँ बाहर ही वने रहने के लिए कहा जायेगा। किन्तु वमें भी वर्म-स्वान में बैठकर आत्मचिन्तन करने का अधिकार है। ऐसा नहीं माना जाता। वह बेचारा नीचे बैठकर वर्म-प्रवचन सुनता है और अन्य समाकथित सबकी कोष मन्दिर में बैठते हैं। हालांकि वो हवा उसे झुकर जाती है, वह उन सबकी कोषों को भी कपटी है। तो फिर उपाय ही क्या है? वर हवा ही हमें प्रसन्न कर रही है, तब फिर कहाँ क्या रहेगा?

इस अशोभनीय दृश्य की देखकर हमने प्रयत्न किया कि हरिजनों को भी सर्व साधारण के पास ही बैठने की बचह मिलनी चाहिए। एक हरिजन तो दरवाजे के पास जूतों के किनारे बड़ा छे और दूसरे कोष अपने की बहुत बड़ा मालगार दरियों पर बैठे वह ठीक नहीं। आज के इस अवशिष्टापी युग में भी ऐसे सबकी कोष देखे गये हैं कि यदि हरिजन जाया और उल्ट के पैर वृत्त तो फिर वे कब कबे ही बचना कर बैठे हैं और छात्र के पैर नहीं छूते। इस मन की संकीर्णता में वह जितनी बुरी तरह से जकड़ा हुआ है। [अधराल महाधीर ने इस संकीर्णता को मुक्तमाने का प्रयत्न किया वा केकिल ने पुर्नता बचक नहीं हुए। उनके बाद बाई हचार वर्ष की बम्बी वर्षण युवती और

आचार्यों ने अस्पृश्यता का समय समय पर तीव्र विरोध भी किया। फिर भी वह उलझन आज तक बनी हुई है। दुर्भाग्य से कई, ऐसे भी साधु आये कि जिन्होंने जनता की रुढ़िवादी आवाज में अपनी आवाज मिला दी और अस्पृश्यता को प्रोत्साहन दिया। एक दिन जैन सस्कृति को जातिवाद के निरसन के लिए घोर मक्ख करना पड़ा था और नास्तिकता का उपालभ सहकर भी उसने जातिवाद का विरोध किया था। दुर्भाग्य से आज वही पवित्र सस्कृति, घृणित अस्पृश्यतावाद की दलदल में फस गयी। यहाँ तक कि अस्पृश्यता के पक्ष में शास्त्र के प्रमाण भी आने लगे। कहा जाने लगा कि जो नीचा है वह अपने अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है।

एक ही जाति



वास्तव में जैन सस्कृति तो एक ही मनुष्य-जाति स्वीकार करती है। मनुष्यों में दो जातियाँ हैं ही नहीं। मानव को देखते ही हम यही समझते हैं कि वह एक मानव है, वह शूद्र है या ब्राह्मण है या क्षत्रिय है, ऐसा बिना परिचय के तुरन्त मात्रुम नहीं होता। स्वाभाविक रूप में जितना मालूम होता है उतना ही वास्तविक है। उसके अलावा जो कुछ भी जातिवाद के प्रपच रखे गए हैं वे अवास्तविक हैं और सकीर्णता के द्योतक हैं।

हमारी मध्यकालीन सस्कृति में कुछ ऐसी जड़ता आ गयी थी कि वह सब जगहों से हटकर एक मात्र भोजन के स्थान में बन्द हो गयी। न जाने यह झूठ किसने फैला दिया कि अमुक का छुआ खा लेने से धर्म चला जाता है। एक ओर तो भारतीय सस्कृति अद्वैत की उपासना करती है। बड़े-बड़े आचार्य, वेदात-शास्त्रियों के माध्यम से जनता के सामने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म एक है और हमें जो

कुछ भी बिचारों से रहता है, वह सब ब्रह्म का ही रूप है। लेकिन हमारी तरह हम ब्रह्म के ही रूप का जब वह रूप दूर या नीच जाति का माना पड़ता है तब हम उनमें घुसा बैठते हैं। ईसाई तो कहता है कि पानी से बने हमारा ही बने रहते हैं। उनमें कुछ सोने के हैं कुछ चांदी के हैं, कुछ हमारी चातुर्बो के हैं। परन्तु उन सब में भी अन्तर्मा का प्रतिबिम्ब तो एक समान ही पड़ता है। इसी प्रकार बंधार के सभी पत्थरों में ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब प्रकट होता है।

हमारे कुछ प्रवृत्तिबोध विचारक-जन जब कभी सर्व-सम्बन्धी बातें सुनते हैं और हमन के साथ मानव-संस्कृति पर विचार-विनिमय करते हैं, तब ऐसा भावून पड़ता है कि सच्चा ब्रह्म-ज्ञान सभी को मिल गया है। किन्तु जब ज्ञान-दान की बात सामने आती है, तब हमका ब्रह्म-ज्ञान न जाने कौनसी कबला में छुप जाता है। इस प्रकार एक वर्ग से दूसरे वर्ग या प्रथम समूह से दूसरे समूह के प्रति घृणा दबदब की जाती है तो वह सामाजिक हिंसा होती है।

जहरीले कीटाणु



बनती गठवियों को चाहिए वह एक हो या एक हवा, सबके सामने हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। जातिवाद की बिना जानेबाका शीला-हल अनुचित है। और इसलिए पीढ़ियों से होने वाली अपनी इस पकड़ी को हम स्वीकार कर लें और सबे सुधारने की कोशिश करें यही हमारा कर्तव्य है। क्योंकि जातिवाद ने हमारे समाज को छोटे छोटे फटकारों में बांटा है। अगर हम इस मिचारे हुए एवं सूटे हुए समाज को फिर से अच्छा बनाना चाहते हैं तो हमें उसके लिए कुछ-न कुछ त्याग करना ही पड़ेगा। जातिवाद का प्रत्यक्ष नष्ट बनकर मात्र

मारे समाज को तग कर रहा है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त को समझते हुए भी हमें आज तो जातिवाद का निरसन करना ही होगा। क्योंकि जब तक जातिवाद के जहरीले कीटाणु समाज में फैले हुए रहेंगे तब तक मानवता विर-मुग्धित नहीं रह सकती।

एक ओर जब हम सांस्कृतिक सौहार्द का दृष्टिकोण बनाने जा रहे हैं तब दूसरी ओर हमारा यह सकीर्ण मनोभाव ठीक नहीं है। क्या दोनों विचारों में अन्तर्मात्र भी सामंजस्य है? अगर हम सांस्कृतिक सौजन्य के आधार पर तथा त्याग और सहयोग के आधार पर जीवन को मुख्यवस्थित करें तो दोनों प्रकार के विचारों को हम गहराई में समझ सकेंगे और उसमें से जो उपादेय है, वह ग्रहण कर लेंगे। नरक और स्वर्ग की बातें करने वाले ही बगल में बैठे इन्सान को अपनाने में हिचक कर जाते हैं। उसको तो सामाजिकता के नाते और मानवता के नाते गले लगाना चाहिए। यदि उस मनुष्य को देखकर आपके हृदय में मात्स्यिक स्नेह की जागृति नहीं होती तो ऐसा मानना चाहिए कि अहिंसा और धर्म के प्रति आपका सच्चा अनुराग जागृत नहीं हो रहा है। उदार और व्यापक दृष्टिकोण के लिए हरिकेशवल और भैरव मुनि की कथाओं के रूप में जैन मठ का अतीत बहुत गौरवपूर्ण रहा है और जातिवाद का विरोधी रहा है। हमें अहिंसा के व्यापक स्वरूप की ओर अब ध्यान देना चाहिए और मानसिक कालुष्य में ऊपर उठकर जीवन के सम्बन्धों को स्थिर करना चाहिए।

जातिवाद का भूत



हिंसा एक प्रकार से अन्धकार है। यह अन्धकार आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। मनुष्य अपने सही मार्ग को पहचानने में कठिनाई महसूस कर रहा है और इसीलिए यह परेशान भी है। जैसे रात्रि के समय घर में चोरी के डर जाने पर घर वाले खड्डे के लिए लो ठेकार होने हैं चोरी से लेकिन साठिया भराने लगते हैं अपने ही घर बाकी पर। अन्धकार में अपने-पराये का कोई भेद बालूब नहीं होता। अहिंसा इस अन्धकार में प्रकाश की रेखा बनकर आई है। यह अन्धकार हमें भेद के कटवरी में बाध होता है लेकिन अहिंसा छिड़ से इन कटवरी को तोड़कर हमें एकता के नुब से पिरो देती है। यह मनुष्य-जीवन एक दुर्लभ वस्तु है। आज इस जीवन की और मनुष्य समाज को अहित नहीं होने देना चाहिए। यदि हम मनुष्य बनकर भी मनुष्यता के मूल्य को एक मनुष्य समाज के महत्त्व को नमस नहीं सकेने लो यह हमारे लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात होगी।

पास्तकारों ने मनुष्य को बहुत ऊंचा स्थान दिया है। 'भुक्तं ब्रह्म तस्मिन् ब्रवीमि नहि मानुषान् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।' यह पास्त का वाक्य है। पास्तकार कहता है कि जो मानव जाती तुम्हारे पास में है एक रहस्य की बात कहना है। यह रहस्य ब्रह्म का रहस्य है। यह रहस्य क्या है? यही कि इस दुनिया में मनुष्य के बचकर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।

जब मानव अपने आप में इतना श्रेष्ठ और ऊँचा है, तब फिर उसमें ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का सवाल खड़ा करना और उस आधार पर जातिवाद का निर्माण करना निहायत मूर्खता ही है। हमें समझना चाहिए कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो। यदि इन्सान के साथ व्यवहार करने का तरीका नहीं आता है, तो हमारा शरीर भले ही इन्सान का हो, इन्सानियत के गुण हममें नहीं मिल सकेंगे, क्योंकि घृणा, द्वेष, अहंकार, ये सब पशुता की भावनाएँ हैं, मनुष्यता की भावना तो आदर और नम्रता में प्रगट होती है।

ऊर्ध्वगति



मानव सदा ऊपर की ओर गति करता है। वह आगे बढ़ना चाहता है। नाना प्रकार के पुरुषार्थ कर के वह अपने जीवन में विकास के मार्ग ढूँढता है। यदि हम ऐसा मान लें कि कोई व्यक्ति जन्म से ही ऊँचा है, या अमुक जाति में जन्म लेने से ही महान है, तो हम इस चिरंतन पुरुषार्थवाद के साथ खेल करते हैं। यदि समाज में पुरुषार्थ नाम का तत्त्व न हो, तो समाज टिक ही नहीं सकता। जातिवाद पुरुषार्थ का विरोधी है। अमुक जाति में जन्म लेने से ही ऊँचा हो गया हूँ, फिर मुझे पुरुषार्थ करने की क्या जरूरत है? मैं तो सबके लिए पूज्य हूँ, महान हूँ, उपदेशक हूँ, ऐसी भावना जिस व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो जाती है, वह व्यक्ति मानवता के सद्गुणों का विकास करने के लिए किसी भी तरह का प्रयत्न नहीं कर सकता। वह आलसी बन जाता है। निष्क्रिय बन जाता है। और अपने जीवन की ऊर्ध्वगति को कुण्ठित कर देता है।

एक कवि है, दूसरा लेखक है, तीसरा वक्ता है, चौथा साधक है, पाँचवा आत्म-चिन्तक है। ये सब अलग-अलग सद्गुण किमी जाति

से सम्बन्धित नहीं हो सकते। उसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। बिना साधना के अगर कोई केवल बहिष्कार या वेता बन सकता हो तो वह तो बहना ही क्या। केवल यह अस्वाभाविक है। बन्ध के साथ कोई वेता बनता या विचारक बनकर नहीं आता। इस प्रकार के अन्धवश संस्कार तो बन्ध से ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु विशेष संस्कारों का विनाश तो पुनर्पार्थ से ही होता है।

शास्त्र के वहाँ बन्ध केने मात्र से पवित्रता प्राप्त हो पाय और वहाँ कुछ से बन्ध केने मात्र से वैराग्य मिल पाय तो फिर वैराग्य पवित्रता के लिए कीय प्रयत्न करेगा? यदि बाँध के बाहर छोटे दूर आकर के पीछे की टहलियों पर ही बाहर का जल मिल पाय तो नहीं नाओं को कीय जाने? बरतों पर बाहर कीय छोकरे जाने? पुनर्पार्थ के बिना ही यदि इच्छित वस्तु मिल सकती हो तो कोई क्यों पुनर्पार्थ करे?

कसौटी पर



इस प्रकार जब पारसीय दृष्टिकोण के और बुद्धि की कसौटी पर नज़र के इस प्रश्न को हम देखते हैं तो वह आकाशी से जगत में आ जाता है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच से कोई भेद-भाव नहीं है। जो सर्व-व्यापकता कायम की गयी है वह केवल समाज को सुव्यवस्थित तथा सुनियंत्रित करने के लिए ही कायम की गयी है। आज प्राप्ति के बाव पर अपने आपकी ऊँचा समझने वालों ने जब पर, जल पर शिक्षा पर और विविध प्रकार की सभी सामाजिक सुविधाओं पर कब्जा कर रखा है। वे अपने स्वार्थ को विधिष्ठ रखने के लिए, नहीं चाहते कि छोटी प्राप्ति के लोग आने आँवें और ऊपर चढ़ें। वे अपनी दुष्कृत को और अपने अधिकारों को ठेका-ठेका के लिए कायम रखना

चाहते हैं और छोटी जातियों के अथवा नीच कहलाने वाले वर्णों के लोगों का शोषण करते रहना चाहते हैं। तभी आज हम देखते हैं कि शूद्र वर्ण के लोग बहुत दुर्गो, गरीब और अज्ञानी हैं। उन्हें आनन्दपूर्वक जीने का अवसर नहीं है, न उन्हें पूर्णरूपेण प्रगति करने का अवसर भी उपलब्ध है। ऐसी दशा को देखकर हृदय में बड़ी खिन्नता एवं चिन्ता उत्पन्न होती है। अगर यही गिलसिला जारी रहा तो शूद्र वर्ण के लोगों का भविष्य बहुत अन्धकारमय प्रतीत होता है। हालांकि शूद्रों के हित में अनेक कानून बन गये हैं, अनेक सस्थाएँ बन गयी हैं और वे कानून तथा वे सस्थाएँ शूद्र वर्ण के लोगों की रक्षा का और उनके हित-साधन का दावा करती हैं। परन्तु ये कानून और सस्थाएँ अधिकतर जवानों जमातों और कागजी कार्यवाहियों में ही व्यस्त हैं। आज भी समाज के प्रमुख पदों पर या शासन में या व्यापार में या उद्योग-धन्धों में उच्च वर्णों के लोगों का ही अधिकार है। जब तक वास्तविक जीवन में समानता का भाव नहीं आयेगा, तब तक केवल कानून कितानों की धरोहर बन जायगा। और ये ऊँचे नाम वाली सस्थाएँ इतिहास की कहानी मात्र बन जायेंगी। -

स्पष्टतः अब यह घोषित करना होगा कि कोई भी व्यक्ति जन्म से पवित्र या श्रेष्ठ नहीं है। और न जन्म से अपवित्र तथा नीच है। जिसका आचरण उत्तम है, जिसकी बुद्धि और भावना उत्तम है, वही श्रेष्ठ है। जो इस तत्त्व को नहीं मानता और मानव-मानव के बीच भेद-भाव खड़ा करता है, वह सामाजिक हिंसा का भागी है और यह हिंसा किसी भी जीव को मारने की हिंसा से कम भयानक नहीं है। जब तक सामाजिक हिंसा का यह स्रोत बन्द नहीं हो जायगा, तब तक अहिंसा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकेगी। अहिंसक समाज-रचना के मार्ग में जातिवाद और वर्णवाद एक भयंकर रोड़ा

है। इस पीछे की इच्छा के लिए व्यक्तियों के मस्तरों को बदलना होना और बाएँ और से सामाजिक तथा सांस्कृतिक जाति का नारा बुलाना करना पड़ेगा। अगर हम चाहते हैं कि अहिंसा का अद्यतन विस्तार हो और मानव-जीवन के जहाँ-जहाँ हिंसा के कीटाणु व्याप्त हैं जहाँ-जहाँ अहिंसा के हथियार का प्रयोग बिना बाध तो हमें वर्तमान व्यवस्था की इस यक्ष मायता पर सबसे पहले प्रहार करना होना तथा मानवता की एक सम्पूर्ण मनुष्य जाति को एकता के सूत्र में पिरोने का अनुष्ठान करना होना। यदि हम आज के दुःख के भी अहिंसा की स्वाध्याय के लिए समर्थ नहीं होते हैं और जातिवाद का निरसन करने के लिए जाने नहीं जाते हैं तो हमारा अधिपत्य कुछ कम नहीं हो सकेगा।



मानवता का भीषण कलंक



जीवन है, समाज है और राष्ट्र है। इन तीनों का एक दूसरे के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के विविध रूपों में मानव अपनी भावनाएँ क्रिया के रूप में अवतरित करता रहता है। वे भावनाएँ हिंसा और अहिंसा के रूप में असंख्य भेदों के साथ प्रगट होती हैं। जिस किसी भी क्षेत्र में या जिस किसी भी ढंग से, जो भी ज्ञात या अज्ञात, सूक्ष्म या स्थूल, बाह्य या आन्तरिक हिंसा होती है, वही मानव का सदैव एक चाहता है कि हिंसा का स्थान अहिंसा ग्रहण कर ले। अहिंसा के द्वारा ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का त्राण सम्भव है। इसलिए मानव हर स्थान पर हर रूप में और हर क्षेत्र में हिंसा को पद्दलित करना चाहता है और अहिंसा को प्रोत्साहित करना चाहता है।

जो हिंसा क्रोध, मान, माया, लोभ एवं वासना के रूप में मानव मन के अन्दर-ही-अन्दर आग की तरह सुलगती रहती है, वह आन्तरिक हिंसा है। इस हिंसा के माध्यम से हम किसी दूसरे की हत्या नहीं करते, बल्कि अपने ही अभद्र सकल्प से अपनी ही हत्या करते रहते हैं। आत्म-हत्या का अर्थ बन्दूक या पिस्तौल से, जहर खाकर या कुएँ में गिरकर मर जाना ही नहीं है। वह तो शरीर की ही हत्या है। किन्तु मनुष्य जब अपने सद्गुणों की, सद्बिचारों की और सद्बृत्तियों की हत्या करता है, तो वह अधिक भयंकर आत्महत्या होती है।

आत्महत्या कायरता है। मानव-जीवन के साथ बहुत तक कायरता जानेकी बड़ा तक बहु पण्डित होना और सङ्कल्पितो से भ्रष्ट होना। कायरता और धन ही मानव-जीवन के पतन का कारण है और हिंसा में केवल कायरता ही होती है औरता नहीं। जो आघात करता है धन खाता है और अपने को स्वार्थ के लिए या अपनी कुसङ्कल्पितो को बहाला देने के लिए दूसरों पर क्रोध करता है। दूसरों को अपमान करता है या दूसरों को मार काटता है बहु निहामय करपोक है और कायर है। जिसके हृदय में धन नहीं है, जिसको अपने जीवन की रक्षा का भार परेशान नहीं करता बहु अपने शत्रु लेकर भी दूसरों की रक्षा करने के लिए तत्पर रहता है। इसलिए वह वीर है और नहीं बहिष्ता भी है।

अम



कभी-कभी ऐसा होता है कि अनन्त हन कायरता की बीछा समस्त घेते हैं। इसका ही नहीं बल्कि बहु अम मन की इस तरह बर्णन केता है कि हन हिंसा की भी बहिष्ता का नाम दे देते हैं। यही कारण है कि दूसरों की हत्या करने वाले या दूसरों की हिंसा करने वाले वीर कहलाने लगते हैं और धर्म के नाम पर आधि-पति के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर होने वाली हिंसा की भी बहिष्ता मग्न किया जाता है। इस प्रकार बहिष्ता और हिंसा सम्बन्धी धनार्थने धनेक बार पैदा होती हैं। किन्तु मानव अपने विवेक से काम लेता है और इन उलझनों की मुक्तता केता है। यहाँ कहे अपनी बुद्धि और अपना विवेक महारा नहीं लेता वहाँ बहु इतिहास का धर्म-धर्मों का अथवा आधीन धर्मों का महारा ले केता है। धर्म बिना य महामक हो घबटे हैं। किन्तु बाहिर ही मानव को अपने विवेक का निर्णय ही स्वीकार करना

पढता है। क्योंकि शास्त्रों का भी एक कोई निश्चित फलितार्थ कहा है ? प्राचीन काल से ही पंडित लोग शास्त्रों का अनेक प्रकार से विश्लेषण करते हैं और मानव को अनेक विभिन्न विचित्र परिभाषाओं में उलझा देते हैं।

आज हिंसा का जो रूप बना है, वह रूप पहले नहीं था। जो हिंसा सामाजिक और सामुदायिक क्षेत्र में ज्यादा भयकर और व्यापक हो रही है, उस सामाजिक और सामुदायिक हिंसा को बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। एक अखंड मानव-जाति अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंट गयी है। उसके असंख्य टुकड़े हुए हैं। उन टुकड़ों को कोई गिनना चाहे, तो शायद अच्छी तरह से गिन भी नहीं सकेगा। पिछले अध्याय में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि जाति एवं वर्णों के नाम पर किस तरह ऊँच-नीच की चौड़ी खाई खोदी हुई है। ये खाइयाँ उसी तरह मानव-जीवन को कण्ट पट्टुचाती हैं जिस तरह पैर में घुसा हुआ और दिखाई न देने वाला फाटा सारे शरीर को पीड़ित करता रहता है।

ये भेद-प्रभेद कभी-कभी घर्ष और इज्जत का प्रश्न सामने रखकर भीतर-ही-भीतर जल उठते हैं और फिर विस्फोट के रूप में बाहर भी फूट पड़ते हैं। इस विस्फोट में विद्वेष की आग सुलग उठती है। इस आग में बड़े-बड़े विचारक और समझदार आदमी भी अपनी जाति व संप्रदाय का स्वाभिमान बचाने के लिए हिंसा लेने लगते हैं, भले ही वे विवश होकर ही हिंसा लेते हों।

रोग



हम देखते हैं कि खडित सामाजिकता का भाव यानी जाति पाति, ऊँच-नीच आदि का रोग ऊपर से नीचे तक फैल गया है। जिन्हें ऊँच

बापि के जीव वन्द्यता की निवाह से देखते हैं, वे भी कूट बकूट के नेत्र बाध से बरे हुए हैं। बड़े छोटी बापियों से नृणा करते हैं परन्तु वे छोटी बापिया भी अपने से छोटी समझी जाने वाली बापियों से उतनी ही नृणा करती हैं। ऐसी स्थिति में इस रोग को दूर करने के लिए बहुत बड़ी बापि की अपेक्षा है। पापी को भी इसी प्रश्न को मुकद्दाम के लिए अपना अधिकार देना पड़ा। भोक्ते के साथ बनना कोई अस्ति-वत् होव नहीं था। क्योंकि बापू ने मुकद्दामों को भी हिन्दुओं अितना ही प्यार किया इसलिए बापू मार खाया गया। इस प्रकार के बलिदान हमारे अनेक पूर्वजों को भी देने पड़े हैं।

बापिगत वर्धक सम्प्रदायगत और समूहगत की हिता पूरती है वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देखकर नृणा और होय की संकुचित दृष्टि से देखती है। कभी-कभी मनुष्य अपनी इन संकुचित दृष्टियों को वैदिक जीवन के व्यवहार में भी प्रयत्न कर देता है और जब कारण से वह अपनी व्यवस्थित नीतिगत परंपराओं को तोड़ खाक्या है। एक बालक ठोकर खाकर रास्ते में पिर पड़ता है तो वह समय कठिणस्त बापिवादी लोक यह सोचने लगते हैं कि अगर यह बच्चा किसी हरिजन बापि का या गौरी बापि का हो तो इसे नहीं उठाया चाहिए। वह किसकी निर्बलता की बाधना है? बिछके हृदय में बोझी सी भी कदवा होनी दवा होनी यह बिना किसी तरह का विचार किये उस बच्चे को दुरन्त उठा लेता; क्योंकि वह तो मानवता का परम कर्तव्य है।

जैन धर्म के हरिकेसी मुनि की एक प्रेरणाप्रद कहानी बाती है। वह कहानी जैन साहित्य की अनूत्य निधि है और इस कहानी को पढ़ने से ऐसा लगता है कि हमारे पूर्वजों ने वे पकड़िया नहीं की थी पकड़िया बाध हम कर रहे हैं। हरिकेसी मुनि खेस मुन्नी के बारक

इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले और महान् आदर्शवादी भिक्षु थे । उनके गुणो का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि हरिकेशी मुनि चाडाल कुल मे उत्पन्न हुए थे—वल्कि शास्त्र में सबसे पहले इसी बात का उल्लेख किया गया है ।

सोवाग कुल समूवो गुणुत्तरधरो मुणी

हरिएसवलो नाम आसी भिक्षु जिइदियो ।

यह उल्लेख हमें शास्त्रकारो के हृदय तक ले जाता है । इस कहानी को समझने के लिए हमे उस युग की परिस्थितियो को भी समझना चाहिए और इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जिस जमाने मे जातिवाद अत्यत भयकर रूप मे फैला हुआ था, उस समय भी जैन शास्त्रकारो ने चाडाल कुल मे उत्पन्न मुनि का गुणानुवाद किया है । जीवन-यात्रा में कभी-कभी बड़ी अटपटी घटनाए आती हैं । सावधान रहने पर भी मनुष्य ठोकर खा ही जाता है । किन्तु सच्चा वह्रादुर वही है जो गिरकर भी उठ खड़ा होता है । हरिकेशी मुनि उन्हीं वीरो मे से एक थे । उन्होंने अपने जीवन को एव आत्मा को सभाला और वे अत्यन्त महान् व्यक्तित्व वाले मुनि बन गये । जब वे गृहस्थ थे, तब चारो ओर से उन्हें अनादर मिला । किन्तु जब उन्होंने अनादर का घूट पीकर अपने मन को स्थिर किया तो वे श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाले जितेन्द्रिय भिक्षु बन गये । भगवान महावीर स्वय कहते हैं कि जाति की कोई विशेषता नहीं है । तपस्या की ही विशेषता है । जीवन की पवित्रता व साधना ही मानव को विशिष्ट बनाती है । जाति तो केवल अहकारजन्य विकार है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हरिकेशी मुनि हैं । चाडाल का लडका भी कितना ऊचा उठ सकता है, यह हरिकेशी मुनि ने अपनी उत्कृष्ट साधना से साबित कर दिया । उनका आध्यात्मिक तेज और उनका विमल यश चारो ओर

स्वाप्त हुआ। तीन सासनों की इसी छोटी आवाज को सुनकर भी यदि हमारे इन्द्रियुन्मत्त समाज के लोग अपनी बाँहें नहीं खोलते तो उसके बिना कोई उपाय नहीं है।

अन्य उदाहरण



बाहिर कर्ष ही तो सूतपुत्र थे। किन्तु अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न के द्वारा उन्होंने अपने जीवन का जो नव-निर्माण किया उससे वे अनेकानेक शत्रुओं से भी अधिक बख्शान सन्निध हुए। उन्होंने कहा कि कित्त मुक्त मैं मैत्रा प्राप्त हो यह मेरे हाथ में नहीं था। प्रकृति के हाथ में था। किन्तु पुरुषार्थ तो मेरे हाथ में है। फिर मैं क्यों न पुरुषार्थ करूँ ? मैं ज्ञान से न सही किन्तु अपने कर्म से अविजय बन गया हूँ।

इसी तरह बाइबीक भी पहिले एक साधू ही तो थे। किन्तु जब उनके हृदय में परिवर्तन आया और जब उनके अन्दर मन में कष्टों का लग्न पड़ा तो रामायण के रूपमें एक महाकाम्य ही पूर पड़ा। उनके इस आध्यात्मिक कथित्व ने सारे समाज को समस्तकृत कर दिया।

इन सारे ऐतिहासिक संघर्षों के बाद यह अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि आदि और कर्म की मान्यताएँ निर्राध आध्यात्मिक, अर्थ और वैयक्तिक हैं। मान तो प्रत्येक मानव को अत्यन्त उदार अपने ही आवश्यकता है। उदात्त ही इस युग की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि हृदय में उदात्तता न हो तो द्वारा सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मूढ़ा पक्षपात ही बन जायेगा।

अविचार नहीं है कि कहा ईश्वर है, ईश्वर है, ईश्वर है और मनुष्य के प्रति बोधी-सी ही हीन मानना है, तो यह हिंसा है। अहिंसा की

साधना के लिए पहले हिंसा के समस्त उपकरणों से मुक्त हो जाना चाहिए। जब हमारा मन, विचार और मस्तिष्क इस बात के लिए राजी हो जायेगा कि हम अनावश्यक सग्रह, लोभ और वासना से नहीं पड़ना चाहिए, तब सहज ही ये बातें प्रकट हो जायेंगी। हिंसा, यानी समाज को खडित करने का विचार और अहिंसा यानी समाज को एक सूत्र में पिरोने का विचार। इन दोनों विचारों में से हमें एक को चुन लेना चाहिए। अगर हम समाज की एकता में और मानव मात्र की एकता में विश्वास करते हैं, तो हमें अहिंसक समाज पद्धति की संपूर्ण कल्पना का चरितार्थ करना चाहिए और उसके लिए मानवता के इस कलक को यानी जातिवाद के पाप को शीघ्र ही धो डालना चाहिए।

पवित्रता का मूल स्रोत

०

जीवन की सफ़लता क्या है ? बहुत से लोग जब को पा लेने से चला को पा लेने के अथ को पा लेने से बचना इसी तरह के अन्य जीवन वा लेने से जीवन की सफ़लता मान बैठते हैं । परन्तु ये सब सफ़लताएं क्षणिक हैं नश्वर हैं और वास्तविक आत्मन् को प्राप्त करने वाली नहीं हैं । जीवन की वास्तविक सफ़लता है आत्मा की पवित्रता : यह पवित्रता ईश्वर पर के आर्यों और सिद्धान्तों को समान रूप से मान्य है । मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य भी आत्मा की पवित्रता ही है । यह की एक ही राह है । रास्ते में जाने ही हम अकस-अकस जगो में अपनी बानें प्रकट करते हैं अन्धकार के रूप में बर्म भय, पथ और वास्तियों के रूप में बड़े ही अकस-अकस बिछाई देते हैं । किन्तु जीवन के अन्तर की राह तो एक ही है । यह है आत्मा की पवित्रता । शिक्षका मन, शिक्षका जीवन और शिक्षकी मान्यताएं पवित्र नहीं हैं, यह सब दुनिया में बाड़े बिछनी भौतिक सफ़लता प्राप्त कर के लेकिन वास्तव में यह ऊंचा आत्मन् प्राप्त नहीं कर सकता । जीवन की पवित्रता के जो तावक हैं वे अपना उत्थान करते हैं और जीवन विकास की सही दिशा में कदमों के साथ करम बढ़ाने हैं ।

अब यह है कि यह आध्यात्मिक पवित्रता कैसे हासिल हो ? जब तक हमें पवित्रता तक पहुँचने का मार्ग नहीं मिलेगा तब तक हम हमारे अन्तर अन्तर में नटनते ही रहेंगे । पवित्रता का एकमात्र रास्ता मार्ग अहिंसा है । हमें जो मनुष्य-जीवन दिया है, यह एक जीवन्ती

घरोहर है और मनुष्य-जीवन में ही हम अहिंसा की पराकाष्ठा तक पहुँच सकते हैं। मनुष्य के अलावा कोई भी प्राणी हिंसा और अहिंसा का विवेक नहीं कर सकता। यदि हम मनुष्य का जीवन पाकर भी उसका सदुपयोग नहीं करते और यह नहीं सोचते कि इस जीवन का उद्देश्य क्या है, इस जीवन का उपयोग समाज के कल्याण के लिए कैसा हो सकता है, जनता के दुख-दर्द को कम करने और समाज में सद्गुणों के निर्माण का प्रसार करने में यह जीवन कैसे सहायक हो सकता है, इत्यादि पहलुओं पर यदि हम विचार नहीं करते तो फिर मनुष्य का जीवन पाकर भी हमने उसके महत्त्व का मूल्यांकन नहीं किया, यही समझा जायेगा।

भगवान् महावीर का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में बहुत साफ है। वे कहते हैं कि, हमने जो जीवन पाया है, उसका उपयोग समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए करें। अगर ये समस्याएँ वैयक्तिक और पारिवारिक भूलों से पैदा हुई हैं, तो उन भूलों की खोज करो। यदि वे समस्याएँ समाज की भूलों से पैदा हुई हैं, तो उन्हें भी ठीक करो। इस प्रकार हमारे देश में या आस पास के मसालों में जो भूलें या गलतियाँ हो रही हैं और जिनके कारण मानव-जीवन में कांटे पैदा हुए हैं, उनको भी एक-एक करके दूर करो। जीवन-मार्ग को अपने लिए और दूसरों के लिए साफ, सरल और आसान बनाओ। यही मनुष्य-जीवन का वास्तविक उपयोग है।

जितने भी मनुष्य हैं, वे चाहे ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी क्यों न फैले हों, सब मनुष्य के रूप में एक हैं। उनकी जाति और वर्ग मूलतः अलग-अलग नहीं हैं। इसलिए समस्त मानव-जाति के साथ समानता का व्यवहार ही अहिंसा की पहली शर्त है। जो व्यक्ति मानव मात्र के साथ समानता का व्यवहार नहीं करता, गरीबी और अमीरी के आधार पर मानव का अपमान करता है या

घटा और सम्पत्ति के अधिपति में विषयों और वस्तुओं का बोध करा है, वह मनुष्य-जीवन के लाभ आनन्द करा है ।

हीन भाव



कुछ लोगों में स्वाभाविक रूप से अपने आपकी हीन-हीन अवस्था की हीन मनोवृत्ति भी पाई जाती है । वे अपने में दुनिया भर की सब कोशिशों में संतुष्ट करते हैं और अपने को बहुत निम्न कोटि का मान बैठते हैं । इसी हीन भावनाओं का यह दुःखद परिणाम है कि ऐसे लोग हर समय रोते और पिडनिकाते हुए बिछाई बैठे हैं । इनमें आत्म-विश्वास नहीं होता और पुरुषार्थ भी नहीं होता । इनमें जो अनन्त धीर्य और शक्ति है उसके प्रति वे स्वयं आश्चर्यचकित नहीं होते । मनुष्य के भीतर जो महत्त्व है वही स्वयं आत्मा है । महत्त्व के अतिरिक्त मानव कुछ भी नहीं है । क्योंकि महत्त्व को त्याग करने का विचार तो स्वयं आत्मा कर ही नहीं सकती । क्योंकि आत्मा मरना आत्मा का त्याग कैसे करे ? अतः महत्त्व को छोड़ना न तो संभव है और न वांछनीय है । जो महत्त्व को छोड़ देता है वह अपना स्वाभिमान भी छोड़ देता है और जिस मनुष्य के पास अपना कोई स्वाभिमान नहीं वह मनुष्य ही क्या है ? वह नयी विप्लव कर के प्रकट नहीं होना चाहिए । जब महत्त्व अधिमान का रूप धारण करता है तब वह मनुष्यों के बीच भेद और बढ़ता पैदा कर देता है । किन्तु जब वही महत्त्व स्वाभिमान के रूप में प्रकट होता है तब प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा अपने पैरों के तलब तक पहुँच जाती है । इसलिए अत्यन्त व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने अन्दर किसी भी हीन भावना को त्याग न दें । बड़ा घने वही समझना चाहिए कि ऐसा जीवन बीरो की तरह रेबने के लिए या रसक माने के लिए नहीं है । मुझमें अनन्त धीर्य है, पुरुषार्थ है और मार्ग-शक्ति है ।

मैं अपना और समाज का निर्माण कर सकता हूँ। उसके लिए मुझे अपने जीवन को, अपने हृदय को और अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिए। जो आत्मा है, वही परमात्मा बन सकती है। इसलिए मेरी आत्मा कमजोर या दुर्बल नहीं है।

जब मनुष्य के मन में इतना आत्म-विश्वास जागृत हो जायेगा तब वह किसी भी शोषक के चंगुल में नहीं फस सकता। जब कोई शोषक उस पर अन्याय करेगा, शोषण करेगा या उसके अधिकारों पर आक्रमण करेगा, तो वह मनुष्य उस शोषण के खिलाफ खड़ा हो जायेगा और उस अन्याय का मुकाबला करेगा। क्योंकि वह जानता है कि मैं सब कुछ कर सकता हूँ। परन्तु जो व्यक्ति हीन भावना का शिकार होगा वह घुटने टेक देगा, दब जायेगा और यह मान बैठेगा कि मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता। मैं तो एक दुर्बल और कमजोर मनुष्य हूँ। इसलिए यह धनवान या सत्ताधिकारी जो कुछ आज्ञा देता है, उसी का मैं पालन करूँ। यही से शोषण का प्रारम्भ होता है, यही ने अन्याय का बीज अंकुरित होता है।

मानव-जीवन के भविष्य में अभीम समावनाएँ और असह्य ऊँचाइयाँ विद्यमान हैं। कोई भी वच्चा माँ के पेट में महान अथवा धनवान अथवा सत्ताधिकारी बन कर नहीं आता। कुछ आवश्यक परिस्थितियों का सहयोग भी सबको नहीं मिलता। किन्तु इतिहास साक्षी है कि अनेक ऐसे महापुरुष हुए जो वचपन में विलकुल गरीब, असहाय और सुविधाओं से वंचित थे। लेकिन उन्होंने पुरुषार्थ किया। सच्ची लगन के साथ मधुर्य किया और आखिर वे एक दिन समाज की प्रथम श्रेणी के लोगों में जा बैठे।

घृणा किस से ?



एक जादमी बराब पीता है। समाज की दृष्टि में वह भिर बाता है। किन्तु कब वह बराब छोड़ देता है और सम्मता के मार्ग पर आ जाता है तो वह समाज की दृष्टि में ऊँचा बन जाता है। वास्तव में बराब बुरी चीज है। जब वह कमी ठीक होने वाली नहीं है। यदि वह बाह्य के हाथ में हो जबना घृण के माह में रखी हो वा लोप के में। बुरी वस्तु बुरी ही होती। किन्तु जादमी बुरा नहीं होता। वह पवित्र है और पवित्र ही रहता है। एक व्यक्ति जब बराब नहीं की रहा होता है तो अच्छी गियाहों से देखा जाता है और जब बराब पीने लगता है तो वह समाज की गियाहों के दूर जाता है। किन्तु पवित्र बराब पीना छोड़ते ही वह पवित्र हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मानव बराब पवित्र ही होता है। और यदि पीने करना छोड़ देता है तो वह पवित्र बन जाता है। इसलिए गुना पाप से भी बची बाह्य, पापी के नहीं। वे बुराईयों की एक तरह से रोप है। जैसे कुच्छ के रोपी से भी हथ गुना नहीं करते बल्कि देवा-मुमुया करके बने सम्पुस्त बना देते हैं बकी तरह नमुप्य में जो बुराईयों पैदा ही जाती है कन्हे की दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। नमुप्य से कभी भी बचरत नहीं करनी चाहिए। सोचना चाहिए कि एक बका बका जादमी बाह्य बराब क्यों पीने लगा ? पीने क्यों करने लगा ? व्यवहार क्यों करने लगा ? इसके पीछे कतना कीमता पनीपिज्ञान नाम कर रहा है ? इन बुराईयों के उत्पन्न होने के लिए कीमती परिस्थिति भूटी और विश्व बातावरण की अनुकूलता प्राप्त हुई ? इन सब बातों पर समीक्षा के विचार करके फिर उन परिस्थितियों को मिटाने के लिए एक व्यवस्थित योजना बनानी चाहिए। यह योजना के अनुसार कार्य करना चाहिए। फिर उस पापी नमुप्य के साथ

कोमल व्यवहार करते हुए धीरे-धीरे इस तरह से पेश आना चाहिए कि जिससे वह स्वयं अपने पाप से नफरत करने लगे और अच्छाई की तरफ उन्मुख हो जाय । इस तरह की मानसिक चिकित्सा से ही ये मानसिक रोग दूर हो सकते हैं ।

आज जिवर भी दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर ही घृणा और द्वेष के अशुभ चिह्न दिखाई देते हैं । घृणा और द्वेष का मूल कारण मन की सकीर्ण भावनाएँ हैं । यह सकीर्णता ही हिंसा है । इस सकीर्णता को जब हम मिटा देंगे और अपने हृदय को बहुत उदार तथा विशाल बना लेंगे, उसी दिन अहिंसा प्रगट हो जायेगी ।

पवित्रता



पवित्रता का सन्देश न केवल जैन विचारको ने बल्कि ससार भर के विचारको ने एक स्वर से दिया है, किन्तु इतना अवश्य मान लेना चाहिए कि यह पवित्रता जाति, वंश अथवा वर्ग से सम्बन्धित नहीं है । पवित्रता को प्राप्त करने के लिए साधना और तपस्या की आवश्यकता है । वाल्मीकि अपने प्राथमिक जीवन में अत्यन्त क्रूर डाकू था और समाज में चारों ओर अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला एक लुटेरा था । उसके हाथ खून से भरे रहते थे । किन्तु जब जीवन की पवित्र राह मिली और उनके हृदय में करुणा का स्रोत फूटा तब वे महाकवि बन गये, महर्षि बन गये । इसी तरह अर्जुनमाली की कहानी जैन ग्रंथों में इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने वाली है । नरहत्या जैसा जघन्य कर्म करने वाला और हिंसक वृत्ति में आकण्ठ डूबा रहने वाला अर्जुनमाली एक दिन इन समस्त घृणास्पद वृत्तियों को त्याग कर ऋषि बन जाता है और स्वयं भगवान् महावीर उसे अपना वरदहस्त प्रदान करते हैं । बौद्ध-साहित्य में अगुलीमाल की जो प्रेरणाप्रद कथा मिलती है,

यह भी इसी बात का प्रमाण है कि मायव-माय से मुक्त करने वाला एक व्यक्ति कैसे बिना ब्रह्मकर पवित्रता की अधिक प्राप्ति कर लेता है।

इन तीनों ब्रह्मचर्यों से यह स्पष्ट है कि निम्न सेवी में निम्न कोटि का काम करने वाला आदमी भी जब जीवन की वास्तविकता को परख लेता है तब पवित्र बन सकता है। किन्तु अगर हम अपने हृदय की प्रवृत्तियों को कामू में न रखें अपने विचारों को निर्विषय न करें अपनी इच्छाओं को संवर्धित न रखें तब क्या पवित्रता बीड़ी जीव कैसे उपलब्ध हो सकती है ?

यह शरीर



एक आत्म-आशक्त व्यक्ति निरन्तर यह सोचता रहता है कि मैं इस शरीर से मिल हूँ। यह शरीर अपवित्र है। अपुत्र है। पैरि आत्मा पवित्र है और ब्रह्म है। इसलिए इस शरीर का मुझे जोह नहीं करना चाहिए और कभी भी इन शारीरिक बाह्यताओं में आशक्त नहीं होना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति इस शरीर की अपवित्रता का विचार करते समय अपनी आत्मा को भी अपवित्र समझ ले और फिर पवित्रता की प्राप्ति ही न करे तब तो अत्यन्त दूर मुक्तिविरुद्ध परिस्थिति उत्पन्न हो सकेगी।

हां तो शरीर की अपवित्रता और आत्मा की पवित्रता इन दोनों बातों को अच्छी तरह से समझ लेना आवश्यक है। यह शरीर एक भौतिक उपकरण है। अतः इस शरीर की अपवित्रता भी मुख्यतः भौतिक ही है। हमें चारों ओर भी भी लुक लपटनी दिखाई देती है, यह भी इस शरीर के कारण ही है। यह इंद्रियों का हाथा और बाँध का जीव जगति से दूरा हुआ है। इस शरीर से अत्यन्त आदि परार्थ करे हुए हैं। यह शरीर किसी भी वस्तु को अपने अन्दर रहन

करते ही उसे अपवित्र बना देता है। चाहे भोजन कितना ही पवित्र और स्वच्छ क्यों न हो, जैसे ही वह शरीर के सम्पर्क में आता है, दूषित बन जाता है और सड़ जाता है। मनुष्य जिस मकान में रहता है, वहा भी शरीर के द्वारा ही गन्दगी उत्पन्न होती है। शहर की गली-कूचों की गन्दगी का कारण भी यह शरीर ही है। मनुष्य के शरीर के सम्पर्क से हवा, पानी, मकान आदि सभी चीजें मलिन हो जाती हैं। किन्तु आत्मा पूर्णतः पवित्र है। उसमें कहीं भी मलिनता नहीं है। आत्मा एक अनुपम कल्पनातीत वस्तु है, जो चैतन्यमय है, प्रकाशमय है और स्फूर्तिमय है। व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा अलग-अलग होते हुए भी उन सब आत्माओं में कोई भेद नहीं है। वेदान्त-दर्शन तो सम्पूर्ण जगत् में एक ही ब्रह्म को स्वीकार करता है। अद्वैत-वादी यह मानते हैं कि इस ससार में ब्रह्म एक है और वही सत्य है। वेदान्त के आचार्यों ने इतनी बड़ी बात कह दी है, फिर भी पुरानी वृत्तियाँ अभी तक मर नहीं सकी हैं। अभी भी अद्वैत और वेदान्त को मानने वाले व्यावहारिक जीवन में इस एकता को उतार नहीं सकते। यदि यह व्यापक एकता व्यावहारिक जीवन में उतर जाय, तो फिर कोई भी व्यक्ति किसी की भी हिंसा के लिए उत्तारू नहीं होगा। जब वह सोचेगा कि मैं जिस पर हावी हो रहा हूँ, जिस पर अन्याय कर रहा हूँ या जिसकी हिंसा कर रहा हूँ, वह स्वयं मैं ही हूँ, जब इतना अपनत्व, इतनी एकता और इतना स्नेह जागृत हो जायेगा, तब हिंसा के लिए गुजाइश रह ही नहीं सकती। यह बड़ी मनोरम कल्पना आचार्यों ने की है। क्योंकि वे सारे ससार को भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। ससार की समस्त शक्तियों को किसी एक ही पुज में निबद्ध करके उन्होंने समस्त भेदभावों को मूल से विनष्ट कर देने की योजना बनाई थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह कल्पना केवल शास्त्रों और ग्रन्थों की धरोहर बनकर रह गई अथवा विवाद का विषय बनकर रह गयी। यही कारण है कि आज समस्त सृष्टि में एक

ही बड़ा के होने का दर्शन बचाने वाले भी सोचन अभाव और करता के बंधन में पड़े हुए बीच पड़ते हैं। पुराने आचार्यों ने भी मन की उत्कीर्णता का विरक्तन करने के लिए मार्ग निकाला था वह मार्ग अब करीब-करीब अस्वाभाविक-सा बन गया और आज एक जीवन में कहीं भी उस ऊँचे आदर्श का दर्शन नहीं होता। अनुपम जाति आज अनेक दुष्कर्मों में बट पड़ी है और अनेक दुष्कर्म दूसरे दुष्कर्म के प्रति इस तरह कुशा का नाश प्रवर्धित करता है जानी वह दूसरा दुष्कर्म सर्वथा अपरिचित हो या सुबल हो। आज अनुपम के आचार-विचार का कोई मूल्य नहीं रहा है और एकता के बारे में किसी व्यक्ति ने जानी हाथ में कैंची लेकर जगह-जगह से काट डाले हैं। इसी कारण के कारण ही सांस्कृतिक और मानवतात्मक एकता नैस्तेनाश्व हो गयी है।

आज हमारे देश में जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, पंच के नाम पर, भाषा के नाम पर, ज्ञान के नाम पर रोक लगाई जाती होती है, रोक थोकिनी पड़ती है, रोक देने होते हैं तथा रोक संघर्ष के समाचार सुनने को मिलते हैं। बंगाली-बिहारी का प्रश्न मराठी कुचराही का प्रश्न दक्षिण-उत्तर का प्रश्न हिन्दी-पंजाबी का प्रश्न न जाने कितने प्रश्न आज देश को अस्वस्थित बना रहे हैं और भारतीय अनुपम की उत्कीर्णता के जीवन में बाध रहे हैं। वे हारे बेर आज सभी दूर हो चुके हैं, अब हम यह प्रश्न करें कि अनुपम मानव जाति एक ही है और वह एकता ही मानवता का अर्थान है। क्योंकि बहिष्कार का मूल लक्ष्य मानव जाति की एकता में विरथाह करना है। अस्तुता बहिष्कार मानवमात्र तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि वह प्राचीनमान तक पहुँचती है।

हम देखते हैं कि अनेक बदली और विचारक प्राचीनमान से प्यार करते हैं। केवल अनुपम के ही नहीं बल्कि पक्षियों के पक्षियों से

बिल्लियो से, पेड़-पौधो से यानी सम्पूर्ण प्रकृति से प्यार करते हैं। उनके हृदय में स्नेह की ऐसी गगरी भरी होती है, जिसे वे अहिंसा के साधक प्रकृति की हर वस्तु पर उडेलना चाहते हैं। कितना आनन्द-मय और कितना स्नेहमय उनका हृदय होता है। और इस कोमलता के कारण उनके जीवन को कितना सुख प्राप्त होता है। /



शोषण भी हिंसा है



मनुष्य के सामने एक सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि उसके जीवन का गानी कसके रहन-सहन कसके बाजार-मजद्वार इत्यादि का दौर तरीका कैसा है, यह किस भाव-समाज में रहता है, उस समाज के अन्य मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध कैसे हैं ? जबतक यह स्पष्ट रूप से यह निर्भर नहीं कर पाता है कि मानव समाज के सभी मनुष्यों के साथ उसके सम्बन्ध स्नेहक और सम्बन्धवादी हैं या नहीं तब तक यह पूर्वतः मानवता के मार्ग पर जाये नहीं सक्ता ।)

मनुष्य सब समान है : पुरुष और स्त्री दोनों समीर और परीव के बेटे इन्हीं हैं । इसलिए किसी भी मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों के सुखों को जीवन या कोई भी प्रयत्न करे या दूसरे के जीवन की सुविधा में अपने सुख का बहुत बड़ा करे । जाति-पाति के बाजार पर या किसी भी अन्य भौतिकता के स्मूक बाजार पर कल्पित हुए वर्चस्व से हम एक प्रकार की ऐसी शोषणमय नृति पाते हैं जिसके अनुसार एक वर्ग दूसरे वर्ग पर हावी होना चाहता है । जमीनों का वर्ग गरीबों के वर्ग पर ही बड़ा है । यद्यपि वे इस जमीनी की निन्दा करते हैं, वे गरीबी की छायक करते हैं । वे दोनों ही समाज के लिए बरदान नहीं हैं । समाज के लिए ही समझना या महान सुख ही बरदान है । जमीनी और गरीबी दो समाज में एक टोच के रूप में ही प्रकट होती है । यस्तुतः एक ऐसा समझान जो अपने बात के बल की बजाय की सम्पत्ति मायता है और समाज के साथ के लिए इसे बुरा मानता है तथा समाज के साथ के लिए ही बल का प्रयत्न करता

है, वह धनवान अवश्य ही प्रसासा का पात्र है। किन्तु अगर कोई धनवान अपने धन को वैयक्तिक सम्पत्ति मानकर अनैतिक मार्गों से धन का उपार्जन करता है, उस धन की गुरक्षा करता है और फिर अपने भोग-विलास के लिए अथवा अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए उस धन का व्यय करता है, तो वह धनवान, समाज की सम्पत्ति के साथ खिल्वाड करता है। इसी तरह एक गरीब है और उसके पास पैसा नहीं है, किन्तु उसका जीवन, उसका आचार, उसके विचार, उसका रहन सहन, नैतिक है, उन्नत है, न्याय प्रधान है, तो निश्चय ही वह गरीब भी एक आदर्श मानव है। किन्तु अगर कोई गरीब अपनी गरीबी के लिए रोता रहे, उसके लिए अपने भाग्य का कोसता रहे, कोई पुनर्पार्थ न करे, तो वह गरीब भी समाज के लिए भारस्वम्प बन जाता है। लेकिन मुख्य बात तो यह है कि गरीबी और अमीरी के भेद को जड़ मूल में मिटाकर मानव मात्र की समानता, मानव मात्र की एवता और मानव मात्र की बन्धुता के सिद्धांत को संपूर्ण समाज में कायम करना चाहिए। जहां समानता, एकता और बन्धुता जैसे महान सद्गुण हैं, वहां किसी तरह की कोई हिंसा समाज में नहीं हो सकती। जहां ऐसे सद्गुण विकसित और पल्लवित हो रहे हैं, वहीं प्रसासा के उद्गार प्रकट हो सकते हैं।

कर्तव्य



एक राजा यदि ऐसा समझता है कि वह जनता की सेवा के लिए राज्य की व्यवस्था को सभाल रहा है, उसे राज्य के मोह में नहीं पड़ना चाहिए, न राज्य का अहंकार करना चाहिए, बल्कि राज्य के समस्त साधन जनता के लाभ के लिए, जनता की सेवा के लिए जुटा देने चाहियें तो वह राजा और वह शासक सच्चा देश भक्त और

अन्धा रात्रुवासी कहलायेगा। उसकी हथ कभी भी मित्रा नहीं कर सकते। यही उसकी बर्बाद होगी। किन्तु यदि नहीं राजा राज्य का सुव्यवस्थापन करे राज्य की अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने पीछे बोक के और जनता की सेवा करने के उपाय पर अपने वर्ग की अपनी भावि की अपने घर की सम्पत्ति में ही रुका रहे, तो वह राजा और वह शासक कभी मित्रा का नाम नवता है। यही राज्य यदि बरीब नवदूर मेहनत और सुव्यवस्था के बवसाकर छोटी करता है, छछर पीठा है, निरन्तर कुर्तपति में रुका रहता है तो वह समाज के लिए निरन्तर ही एक बहुर का काम करता है और "बहुते से बरेका वह भी बीम बड़ा" वाली कहावत के अनुसार एक ही बरीब और दूसरे वह बीम, मूला शिक्षक बंभी और व्यक्तिवारी। वह से दो-दो बवालक रोव एक साथ बिक भाते है उस समाज के लिए निरन्तर अनिष्टाव बनकर वह बरीब नवदूर अपने राज्य की बर्त में के जाता है, इसकी नवत्र कल्पना की जा सकती है।]

सुख मन्त्र बचीरी और बचीरी का नहीं है। मन्त्र तो यह है कि तुमने सत्कार की क्या बिबा? क्या तुमने अनुभव के साथ समुन्वोधित व्यवहार किया है? तुम देखता नहीं बन सके तो कोई व्यक्ति नहीं है, केवल तुमने इन्सान का ता बटना देटना, बीकना-बकना चीखा है या नहीं? अगर तुम नहीं बनों व इन्सान हो तो फिर पचीरी और निर्बलता कोई बर्ष नहीं रहती। यह नवम्प है और इन्सारे बिबाध के मार्ग की रोकने के बवबर्ष है। किन्तु यदि बचीर होते हुए भी तुमने इन्साविषय नहीं है, बालवता का व्यवहार नहीं है यावत के साथ प्यार करने की बलकम्य नहीं है तो तुम्हारी बचीरी भी तुम्हारे बिबाध के मार्ग में रोकना बन बामेबी और तुम्हें बतव के बर्त में बकेल देवी।

छोटा कद



भारतीय विचारको ने अद्वैत के रूप में या मानव-मात्र की समानता के सिद्धान्त के रूप में बहुत ही ऊँचा आदर्श हमारे सामने रखा। किन्तु उसकी तुलना में आज हम घटने नीचे आ गये हैं कि उसको अच्छी तरह छू भी नहीं सकते हैं। आचरण-हीनता के कारण हमारा कद छोटा हो गया जबकि सिद्धान्तों का कद बहुत ऊँचा है। जैसे बीना आदमी किनी लम्बे कद वाले के पान खा हो और वह उसके कंधों को नहीं छू पाता है, उसी तरह आज हम अहिंसा और सत्य के ऊँचे आदर्शों को छू नहीं पा रहे हैं। इसलिए आवश्यकता है ऐसे अभ्यास और प्रयत्न की जिसके कारण हमारा कद ऊँचा हो सके और हम अपने समानता के ऊँचे आदर्श को अपने जीवन में उतार सकें।

राम द्वारा शोषण



शोषण का सिद्धान्त आज नया नहीं निकला है। हम ऐसा मानते हैं कि हमारे इतिहास में अनेक महापुरुषों ने भी शोषण का रास्ता सर्वथा वन्द कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। वे परिस्थितियों के सामने मजबूर होकर स्वयं भी शोषण के रास्ते से चल पड़े। हमका एक उदाहरण राम द्वारा सीता को वन में भेज देना है। मैं इस सम्बन्ध में जितना भी तर्क और बुद्धि की कमीटी पर विश्लेषण करता हूँ, उतना ही मेरे मस्तिष्क में यह स्पष्ट होता जाता है कि राम ने सीता का त्याग कर के न्याय नहीं किया, बल्कि सीता के मानस का शोषण किया। यदि राम स्वयं सचमुच सीता को पतित समझते होते तो उनका कार्य उचित समझा जाता। किन्तु उन्हें तो सीता के सतीत्व और पवित्रता का पूरा भरोसा था, फिर भी उन्होंने गर्भवती सीता को जंगल में छोड़ दिया। जो राम प्रभावशाली रावण के सामने

नहीं बूके के एक गाराग बोरी के हाथने भककर इतिहास की एक बाहुत बड़ी भूक कर बैठे । तबि उन्हें राजा का आरसें उपनिषत् करवा ही या तो के स्वर्ग शिष्टमन सीढ़कर बकन हो जाते । राजा अभिपुल की अपनी सजाई देवे या अवतर देता है । पर राजा राम ने तो सीढा की ऐसा अवतर भी नहीं दिया । सीढा की अपने अवतर का बसा भी नहीं बसा और जब उसे जना बसा तब वह बलि की या कुली की । हम जगार आदमी य ही आदमी पर कुछ आर दिया । पति में ही बली को बुरि के बाबानन में लोके दिया । मयमन सीढा की पुरुषमय हंन से बाबा कराने के बहाने जब म के जाता है । वन में पुरुषमय पर सीढा के परिवार का सब अवतर जाता है तब कस्मन के बरें का बाब दूर जाता है । बरके हूरन की करवा दूर बगती है । पवाबन से-मवाबन परिस्थिति में भी बरदाब की बरदा बुर रहने वाला अवतर इस करन परिस्थिति को देखकर रो पड़ता है । मैं हम आयाव की कभी भी राज के नाम से गदाव बहने के लिए तैयार नहीं हूँ । यह एक मय्यर का बोधन ही है ।

व्याज-बहु



इसी तरह दूसरे प्रकार का एक और बोधन बाहुत बुराने पाक के बसा या रहा है और यह बोधन व्याज बरदे के बप दे बानी दूर बोरी के कन में बगता है । यह क्या क्या है ? इसकी अपभोषिता क्या है ? यह तो बोध की तरह है । एक बसा नीबिए, उसे निमोरी के बन्ध कर सीबिए और कई बपों के बाब उसे निकालिये । यह एक का रो नहीं होता । इस प्रकार बसा अपने जल में बांस है । जब उस दबने की किनी बसोच-बन्ने में बजाते हैं, बोरी-बासी में लपट्टी है या कम दबने का बाबान प्रभाव होता है तब वह बसा बिन्ना ही जाता है । निमोरी में बर दबना बुरा रहता है । जब दबना नीबित

अवस्था में रहता है, तब वह व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए खाना लाकर देता है। किन्तु मुर्दा रुपया चारों ओर की हलचल से हटकर जमीन में या तिजोरी में बन्द हो जाता है। परन्तु रुपये को क्रियाशील बनाते समय भी यह ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि वह रुपया किसी अनीति और अन्याय के मार्ग पर न चला जाय। व्याज लेकर रुपया देने की बात भी इसी तरह से अनीति और अन्याय के मार्ग की बात है।

व्याज के बारे में भी अनेकों प्रकार के रिवाज चालू हैं। जब एक रुपया लेने आता है तो व्याज के दर कम हो जाते हैं। किन्तु जब एक साधारण आदमी वह रुपया लेने आता है तो उसी रुपये के दर दुगुने, तिगुने तक चढ़ जाते हैं—हालांकि उस साधारण आदमी को रुपये की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यहाँ तक कि उसका परिवार भूखों मर रहा होता है। व्यापार में वह चोट खा चुका है। ऐसी परिस्थिति में उसे रुपया न मिलने पर उसका परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। उसकी इज्जत पर आच आ सकती है। किन्तु उसकी आवश्यकता को अनुभव करके, व्याज की दरें और ज्यादा बढ़ जाती हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि शक्तिशाली हाथों पर तो भार कम लादा जाता है और अशक्त खरगोश पर ज्यादा-से-ज्यादा भार लाद दिया जाता है। समाज की कुरीतियों के कारण भी अनेक चीजें बुराई बन जाती हैं। श्रीमत् की अपेक्षा गरीब से दुगुना और तिगुना व्याज लेना, एक बार रुपया देकर फिर शोषण के रूप में व्याज चालू रखना, इसी तरह की एक सामाजिक बुराई है। पूँजीवादी वर्ग की अर्थ-लिप्सा ने ही इस व्याज के रोग को प्रेरित किया। माहूकार एक बार रुपया दे-देता है और फिर इतना शोषण करता है कि मूल रकम तो सदैव बनी रहती है और बर्जदार वर्षों तक व्याज में फँसा रहता है। व्याज के रूप में किसी गरीब कर्जदार के रक्त को चूसना कितनी बड़ी हिंसा है, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

बाप को पावन माना केवल माप के मोह से लंछित नहीं कर सकता। इसे माप का दूध प्राप्त करने का अधिकार है। परन्तु माप को दुर्रत-दुर्रत जब दूध न रहे तो उनका रक्त दुग्धा तो अनिच्छित ही है। यह तो इल्लामित्र से पीछे दूर की बात है। इसके अन्वय माप के दूध पर केवल पशुत्व का ही तो अधिकार नहीं। उस बेचारे बछे का भी तो दूध दूध है। इसीलिए अनेक ज्ञाना ब्रह्मा ब्रह्म समझता है कि बाप दुर्रत समय पीछे बछे को पीने के लिए दूध छोड़ दे। यही प्रकार कृति म्याम के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए। जब माप किसी की रक्षा में तो म्याम-श्राप दूध-जल शक्ति के बरतते हैं। परन्तु उस पर अनर्थक म्याम खाते रहना और बराबर म्याम का ही चन्दा करना तो सर्वना पुनर्वाहीलता और अनिच्छित ही है। यह निश्चित बात है कि म्याम की हरे बाई मित्रनी ऊँची हो बकरतबब बादपी रचना देने को तैयार हो ही जायेगा- क्योंकि वह अजदूर होता है। चापों और की निचम परिस्थिति देने बंदे रहती है। पर जब वह रचना बन्ना नहीं कर पाता तब सुखदोर हाथकर बहना और बहनी जमीन और ऊँचा सामान तक नीकाम कर देता है। इस तरह म्याम के कारण बौद्ध-धर्म-भाव बरजार होते देखे गये हैं।

जबकि देने के साथ मातृवीय बराबरा तथा जीव की रक्षा माना चाहिए। जिसे माप करने दे रहे हैं, वह मापके ही इस विद्यालय मातृव परिवार का रहस्य है। इस माते वह मापका अभिन्न अंग है। जीव मापकी अपने परिवार की पिता रहती है। जीव ही उनकी भी मापकी भिन्ना रहनी चाहिए और वह व्यक्ति विन परिस्थितियों में और विन कसमों में मात्र पण्ड उठा रहा है, वह परिस्थितियाँ नके दूर ही और वे कसमों नके मुकते इस सम्बन्ध के कारण बराबर ज्ञान देना चाहिए। सम्बन्ध चाई एक बड़े सामाजिक और बोधी पुनर्वा हो गये हैं। मापकी भी न की सम्बन्ध चाई के अरथा श्राप की

पी। रायचन्द भाई पहले बम्बई में जवाहरात का व्यापार करते थे। उन्होंने एक व्यापारी से सीखा किया कि इतना जवाहरात अमुक भाव में अमुक तिथि पर देना। उनके लिए जो पेशगी रकम देनी पड़ती है, वह भी दे दी गयी। परन्तु किमी कारणवश जवाहरात का भाव बढ़ने लगा और इतना घट गया कि बाजार में उथल-पुथल मच गयी। नियत तिथि पर व्यापारी ने अगर नियत जवाहरात ले लिया जाता तो उसका घर तक नौशाम हो जाना। पर रायचन्द भाई उस व्यापारी के यहाँ पहुँचे और कहा कि आप किमी भी तरह परेशान न हों। आप इस लिखा-पट्टी के कारण परेशान हो रहे होंगे। मैं नहीं चाहता कि इस कागज के पुत्र के कारण आपके और मेरे बीच जो सम्बन्ध है, वह टूटे। ऐसा कहते-कहते ही रायचन्द भाई ने उस इकरारनामे के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और बोले, रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं। हमारा वायदा जब हुआ था तब से अब परिस्थिति बदल गयी है और मेरा तुम पर चालीस-पचास हजार रुपया लेना हो गया है। मैं तुम्हारी परिस्थितियों से अनभिज्ञ नहीं हूँ। यदि यह रुपया मैं लूँगा, तो तुम्हारी क्या स्थिति होगी यह मैं जानता हूँ। इतना सुनते ही वह व्यापारी गदगद हो गया और उनके चरणों में गिर पड़ा। उसने कहा, आप मानव नहीं, देवता हैं।

खिलवाड़



इसके अलावा और भी शोषण के कई प्रकार हैं। खेत पर जमीन का मालिक जमींदार अपने मजदूरों से कड़ी धूप में कसकर काम लेता है। परन्तु जब मजदूरों को देने का समय आता है, तब उसके हाथ ढीले पड़ जाते हैं और वह घुड़किया दिखाने लगता है। इसी तरह मिल के मजदूरों की भी दयनीय हालत होती है। जब कि मजदूर अपनी

मेहनत से मिल की खरी करते हैं और लाख लाख बीघा वाले जमीन की मिट्टी को खाते हैं। किन्तु इन मजदूरों की बीम हालत पर जिस के ध्यान नहीं भी पड़े। एक लाख बीघा की ऊंची बिजलियों में बीजा उड़ता रहता है और दूसरी लाख मजदूरों के घर में भूखा एक नहीं रहता। एक लाख मजदूर ऊंची जंगलियाँ में आनन्द-विमान पर उड़ा होता है और दूसरी लाख ऊंची के मजदूर बड़े बिजली के और पत्थरी बस्तियों में अपनी कुलीबस्त की खिंची बाटें खाते हैं। यह परिस्थिति एक का हो चक है नहीं है, बल्कि सर्वत्र दिखाई पड़ती है। अहिंसा-अहिंसा की बात करने वाले और अहिंसा अहिंसा का मार्ग लगाने वाले भी इस गूँघ हिला के मजदूर को बिना कुछ भी खस पाने और मानवता के साथ नया बिलबाव करते रहने हैं। अब एक समाज में छोटी और बड़ी के बीच मामलों और मजदूरों के बीच पट्टी और जमीनों के बीच बाँट के से सम्बन्ध रहने अब एक यह समाज में तो घुपी हो गया है और न समझ हो गया है। ठाकुर नही कि एक दिन से मजदूर अपने अभाव से असुख होकर बर्बाद कर बैठें और समाज में पाँचों और मित्रों की पाँचों की बात लगा दें। यदि ऐसी एक नीति का व्यवहार जाता ही हो तो ही कुछ न करने की बात ही होगी। किन्तु यदि हम एक नीति के नामे नामों को हटा देना है, तो उसके मामलों की नीतियों और ऊँचे बड़े वाले पाँच लोगों का कर्तव्य है कि वे इस व्यवस्था के ठीकों को छोड़कर, व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर सामाजिकता को प्रथम दें और मजदूरों तथा सर्वदाय वर्ग के मेहनतकश लोगों को भी नीचे का चढ़ने का आने का और खुद का सुविधापूर्व व्यवहार दें।

रोटी का सवाल



धर्म का उपदेश बहुत प्राचीन काल से दिया जाता रहा है। फिर भी आज तक उसका पूणतः अमल नहीं हो सका। आखिर इसका कारण क्या है ? हमें यह सोचना होगा कि वह धर्म केवल आदर्शवादी भी है या यथार्थवादी भी है ? वह आदर्शों के सुनील आकाश में ही उड़ता है, या जीवन-व्यवहार की सत्य भूमि पर भी कभी उतरता है ?

अनेक बार हम देखते हैं कि आदर्श, आदर्श ही बनकर रह जाते हैं ऊँचाइयाँ, ऊँचाइयाँ ही बनी रहती हैं। वे जीवन की गहराइयों के और उसकी समस्याओं को हल करने वाली वास्तविक भूमिका पर नहीं उतरती। कुछ सिद्धान्त ऐसे होते हैं, जो प्रारम्भ में तो बहुत ऊँची उड़ान भरते हैं और आकाश में उड़ते दिखलाई देते हैं, किन्तु अन्ततः व्यावहारिक जीवन के घरातल पर नहीं उतरते, क्योंकि उनमें जनता की समस्याओं का उचित समाधान करने की क्षमता नहीं होती।

कुछ सिद्धान्त यथार्थवादी होते हैं। वे जनता की आवश्यकताओं का, समस्याओं का सीधे ढंग से समाधान करते हैं। बच्चों, वृद्धों, युवकों और महिलाओं की क्या समस्याएँ हैं ? भूखी-नगी जनता की क्या समस्याएँ हैं ? इन सब पर गहराई में उतर कर विचार करना ही उनकी सैद्धान्तिक यथार्थता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है।

हा, तो समाज फिर किस पृष्ठ-भूमि पर टिकेगा ? वह कोरे कथोपकथन और कागजी आदर्शवाद पर जीवित नहीं रह सकता।

जब इसे व्यावहारिक संचार-कार्य मिलेगा तभी चिन्ता रहेगी । एवं सम्बन्ध में एक आचार्य ने कहा भी है :

“बुद्धिर्निर्व्याकरणं न बुध्यते
विपादितैः वाक्यरत्नैः न पीयते ।

अर्थात् एक आरम्भी बूढ़ा है । ऐसी स्थिति में व्याकरण के बहुत-से पूर्व सिद्धान्तों से ऊपरी कूट नहीं करेगा । वाक्य का रस बड़ा नीचा है । जब कविता पाठ होता है तो कोय रस-पुष्प होकर बन जाते हैं और बंदों तक बने रहते हैं । अमृत-पान जैसा आनन्द भी अनुभव करते हैं । किन्तु प्यास से व्याकुल बरि कोई प्यासा बड़ा आने और पानी मांगे किन्तु कपड़े बहु बड़ा जाय कि—“पाई बही पानी नहीं है । बड़ा वाक्य है जो कि बहुत ही मधुर है उसमें अमृत जैसा मधुर रस है । इसी को पीकर अपनी प्यास बुझा ली । तो क्या पानी के स्वाद को प्यास वाक्य-रस से बुझा सकेगी ? क्या वह वाक्य का रस पी ही सकेगा ?

इसलिए व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में संचार-कारी आचार्य कहते हैं कि जीवन-स्वाभार की कसत्पाएँ न तो मजबूतों के मुखज चकती हैं, न चाहिये से और न दबिजायीं हैं ही । उन्हें मुक्तजाने के लिए तो कोई बूझण ही सही एक सोचना पड़ेगा ।

रो-आर दिन का बूढ़ा एक आरम्भी आरके घावने भाता है । वह आरके चार और सोचने जाने की इच्छा रखता है । पर आर कहते कहने हैं—“बाई, यह समय बरस का जीवन तो तैयार है । रो दिन ही बने है तो रो विनया कपवाछ और कर को । बरे, रोदियों ने क्या रखा है ? लगी फिर कुछ कम चाहेगी । अनादिनाम के आरके आ रहे हो और अरुण बुनेर बरसों के बरुवर रोदियों के डेर का चुके हो ।

फिर भी तुम्हारी भूख नहीं मिटी तो अब चार कौर से क्या मिटने वाली है ? छोड़ो, इस रोटी को । अब धर्म की रोटी ले लो, जिससे इस लोक की भी भूख बुझेगी और परलोक की भी भूख बुझ जायेगी ।”

धर्म का मजाक



आप ही कहिए, क्या सच्चे धर्म की यही व्याख्या है ? यह धर्म का उपदेश है या उसका मजाक ? यह एक ऐसा विचार है, जिससे जनता के मन को साधा नहीं जा सकता, बल्कि उसके हृदय में काटा चुभाया जाता है । क्या मानव-जीवन इस तरह चल सकेगा ?

इस प्रकार का कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण वास्तविक नहीं है । वह जीवन की मूलभूत और ठोस समस्याओं के साथ निष्ठुर उपहास करता है, वह, मर जाने के बाद तो स्वर्ग की बात कहता है, किन्तु जीवित रहकर इस ससार को स्वर्ग बनाने की बात कभी नहीं कहता । मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुँचने पर ६४ मन का मोती मिलने की बात तो कहता है, परन्तु जिन्दा रहने के लिए अन्न के दो दाने पाने की राह नहीं दिखलाता । वह स्वर्ग का ढिंढोरा तो पीट सकता है, किन्तु जिस मृत प्राय प्राणी के सामने ढिंढोरा पीटा जा रहा है, उसे जीवित रहने के लिए जीवन की कला नहीं सिखलाता । इस प्रकार का हवाई दृष्टिकोण अपनाने वाला धर्म, चाहे, वह कोई भी हो, जनता के काम का नहीं है । आज की दुनिया को ऐसे निस्सार धर्म की आवश्यकता भी नहीं है ।

जिस दुकान में उधार विक्री का ही व्यापार चलता हो और नकद बिक्री की बात ही न हो, क्या वह दुकान अपने को स्थिर रख सकेगी ? इसी तरह जो धर्म, परलोक के रूप में केवल उधार की ही बात करता

हैं और कहता है कि जवाब देने में तो स्वयं मिल जायेगा। बर्ष बर्षों का सम्पन्न और समुदाय कठोर निराशावाद करोवे तो स्वयं मिल जायेगा। तीर्थस्नानी का पर्यटन करोवे तो स्वयं मिल जायेगा। किसी के कह-सुनने का नही करोवे तो बरन के बाद समुदाय का वैभव-वप कम हो जायेगा। परन्तु जो बर्ष यह नही समझता है कि आज का दिन भी आज कर रहे हैं, कल भी वही वन मिलेगा ? जो बर्ष यह नही समझता कि वर्तमान वर्तमान का साधन करोवे तो स्वयं बड़ी पर और एक जीवन में ही जगह जायेगा जिसने मुम्ताज समाज परिवार और राज्य स्वयं ही स्वयं बन जायेगा। फिर उस नास्तिक बर्ष का साधारण जनता क्या उपयोग करे ?

कहाई तो यह है कि स्वयं में के साथ ही जायेगे जिन्हेन अपने स्वयं और समाज के हाथ बड़ी पर स्वयं बना लिया है। जो बड़ी पर स्वयं नही बना पाये है, और जो महा पर बुरा भुक्तानी और शाहबाद का भारतीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें किसी बर्ष के हाथ बरि कभी स्वयं मिलेगी तो यह भोले-भोले ही मिलेगा। इनसे-इससे कभी नहीं मिलने का।

आज से नही, बिनाज के बर्ष की लम्बी बीड़ी व्यापार मुनी का रही है परन्तु के वैभव मुनी के लिए मुनी का रही है, उन पर संकीर्ण-बुद्धि विप्लव मानव नहीं जिना गया है। इसलिए बर्ष को व्यवसाय होना पडा है और अपने को वाणिज्य करने और समझने वाले आज के वाणिज्य की साधारण-विहीनता तथा भिन्न-व्युत्पत्ति के मुक्ति वास्तविक बर्ष के जगत्क मुह पर वाणिज्य कम गई है।

बदि आज आज की यही सोचते हैं कभी क्या है बंधार तो भी ही बंधा रहेगा। और मुझे मरे तो क्या ? जाने की निके तो जाये,

और यदि नहीं मिले तो भूखे पड़े रहो परन्तु ज्यों ही खाने के लिए काम किया या अन्न पैदा किया तो कर्मों का वध हो जायेगा। इस प्रकार खाने-पीने की बातों में आत्मा का कल्याण नहीं होता है। ये सब ससार की कपोल-कल्पित बातें हैं और ससार की बातों से हमारा सबध ही क्या है ? जो ससार का मार्ग है, वह वधन का ही मार्ग है, एक प्रकार से नरक का ही रास्ता है, तो यह सोचना गलत है।

आपको यह भी जानना चाहिए कि जीवन में पेट की समस्या ही बड़ी समस्या है। जब कभी आपको भूख लगे और भोजन के लिए अन्न का एक कण भी न मिले, तब चिन्तन की गहराई में जाइये। उस समय पता लगेगा कि भूखों की शोचनीय अवस्था होती है ? उस समय धर्म कर्म की मरहम पट्टी काम देती है या नहीं ? जब मनुष्य भूख की पीड़ा से व्याकुल होता है, आँखों के आगे अघेरा छा जाता है और मृत्यु का नगा नाच होने लगता है, उस हालत में समता या दृढता का मरहम लगाने वाला मी में से एक भी शायद ही निकले, अन्यथा सभी घायल होकर सहज में अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ जाते हैं।

जैन-शास्त्रों में जो बाईस परीपह आये हैं, उनमें पहला परीपह क्षुधा का है। शेष ताड़न या वध आदि क्रूर परीपहों का नम्बर बहुत दूर आता है। स्थूल हिंसा के रूप में सोचने का जो ढग हमें मिला हुआ है, या हमने जो ढग अपना रखा है, उसके अनुसार तो सबसे पहला परीपह वध-परीपह होना चाहिए था। कोई किसी को मार दे या वध करदे, तो उसके बराबर तो क्षुधा-परीपह नहीं है। फिर वध को पहला परीपह न गिनकर भूख का ही परीपह क्यों गिना है ? स्पष्ट है कि मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही क्षुधा को वध से भी अधिक भयकर माना गया है।

बाप की हज़ारों मालगी ऐसे विधेयों को मुँह से बूटी छप्पटपटा रहे हैं। वे चाहते हैं कि मुँह की ब्याबा में ठिन्क-ठिन्क करके नम्य होने की अपेक्षा यदि उन्हें बल्ल कर दिया बाप तो अधिक अच्छा हो। मुँह बुझकर रोज-रोज बरन और एक-एक प्राण छिटका कर मरट होने के बजाय एक साथ मर जाना वे कहीं ब्याबा झीक समझते हैं। जब और धुवा पटीबहू रीलों वे तो एक को गुमन का कहा बाप तो वे कोय जब को बंजुर करेने। कई कोय ऐसी के नीचे कट कर या नून-ठाकान के मिरकर इधोकिए मरते हैं कि समते अपनी और अपने शाऊ-बन्नी की मुन को पीड़ा नहीं लही या लफटी। वे मुँह की बेरना से कूटकाय जाने के किए ही मरने की बेरना को लहवा स्वीकार कर केते हैं।

“बुझावना बल्लि बरीरवेवना।

अर्थात्—मुँह की पीड़ा के प्रभाव और कोई पीड़ा नहीं है।

मैं समझता हूँ कि बाप इस तत्त्व को अपनी अनुभव नहीं कर सकते हैं क्योंकि मायकी स्थिति दूसरे प्रकार की है। कोई की व्यक्ति जब तक मुँह और अनुद्धि की स्थिति में रहता है, तब तक वह मुँह की भयंकर स्थिति का ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु कुछ ही समय पहले की बात है कि आरुके मारण में ही दुष्काय के कोय जब मुँह के छटपटाते हुए मर रहे थे तो अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे बन्नी की सो-सो रुपये में बेचते हुए नहीं हिचकते थे और वो रोदिया के पीछे लिखा भी अपने ललितन की मध्य कर बेठी थी। इस प्रमाण से बाप बहुत सकते हैं कि मुँह के पीछे दुनिया के भारी-से-भारी दुष्कृत्य और पाप किसे मारते हैं। जब मुँह जमती है तो अनुभव कबकी दृष्टि के किए क्या नहीं कर लुभरता ?

“बुभुक्षित किं न करोति पापम् ?

अर्थात्—“दुनिया में वह कौन-सा पाप है, जो भूखा नहीं करता है ?” वोखा वह देता है, ठगी वह करता है, वह सभी कुछ करता है। और तो क्या, माता और वहिनें अपनी पवित्रता तक को बेच देती हैं ! किसलिए ? केवल रोटी के लिए ।

राक्षसी

●
भूख, वास्तव में एक भयानक राक्षसी है। वह मनुष्य को नृशंस और क्रूर बना देती जब वह अपने पूरे जोश में होती है और उसे तृप्त करने के लिए दो रोटी भी नहीं मिल पाती है, तो पति और पत्नी तक के सम्बन्ध का भी पता नहीं लगता है। और तो क्या, स्नेहशील माता-पिता भी अपने प्राण-प्यारे बच्चे के हाथ की रोटी छीनकर खा जाते हैं।

“बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित् ।”

अर्थात्—“भूख के मारे को कुछ भी नहीं सूझता है।” निरन्तर की भूख ने उसकी ज्ञान-शक्ति को नष्ट कर दिया है।

वह कौन-सी चीज थी ? जिसने मेवाड़ के ही नहीं, वरन् समूचे भारत के गौरवस्वरूप महाराणा प्रताप को भी एक बार अपनी स्वाधीनता की साधना के पथ से विचलित कर दिया था ? अपने बच्चों की भूख को सहन न कर सकने के कारण ही तो वे अकबर से सन्धि कर अपनी प्यारी जन्म-भूमि की स्वतन्त्रता को खो देने के लिए विवश हो गये थे। जब प्रताप जैसे दृढ़-प्रतिज्ञ और कष्ट सहिष्णु व्यक्ति भी भूख के प्रकोप से अपने सुदृढ़ सकलपो से गिरने लगते हैं और ऐसा काम करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, जिसकी स्वप्न में भी वे स्वयं

नस्नान नहीं कर सकते व तो बाज के बाधारण आचरितों का ही रहना ही क्या है ? बाजकण तो एक दिन का उपवास भी वैसी प्रयोग बैठा अनुभव किया जाता है ।

कृषि



बीजन में मूल की समस्या की मातानी से एक करने वाली एक बीज है—कृषि अर्थात् खेती । कृषि से जो उत्पादन होता है वहाँ से बहुत से लोगों की जो अर्थकर मूल के दरवाजे से सर्व साधारण की अस्त्रमा में प्रवेश करती है, रोका या बँका है । इन विधिव्य-महा पापी को रोकने के लिए अतीत जन्म में जपमान् भूचरद्वेष आदि आविर्भाव से तो कृषि आदि के रूप में अथवा प्रयत्न किये हैं, किन्तु बीज के बाज रहना होता कि अथवा कुछ कोप महापाप और महान् आरम्भ की छाया देखते हैं । जपसी बीजन रखा के लिए तो जन्म लाएँ किन्तु जिस जन्म पर जन्म-बीजन निर्भर है, उसके जन्म करने वाले की महापापी कहेंगे । जो जन्म-उत्पादन का कार्य कर रहे हैं वय उन्हें महापामी-महापापी और उनके कलस्वरूप नरकवासी कहा जाता है तो किसी भी लक्ष्य का जन्म विवर्धित करता है और हरन दूक-दूक हो जाता है ।

हमारे पास कुछ रहते हैं, हमारी प्राचीन परम्परा कुछ कहती है किन्तु बाज हम वृत्त ही रात्र आकाशते हैं । बीज-संस्थिति समाज की रहा के जाना चाहती है किन्तु कुछ बीज बँते अथवा बिना नहीं जन्म ही बँटन रहे हैं । जगहीन बीधान में बँटने वाले वाली की-ती बुद्धि बाज हमारी ही रही है ।

हमारे बाज के विचारों की जान जाने दीजिये । मैं जानने मुकना है कि जपमान् भूचरद्वेष से क्या निष्ठा या ? क्या उन्होंने उक्त समय के लोगों को महापाप और महान् आरम्भ का पस्ता बतकाना था ?

आप कहेंगे कि तब वे भगवान् नहीं बने थे । किन्तु क्या आप यह नहीं जानते कि उन्हें मति, श्रुत और अवधि ये तीन प्रकार के निर्मल ज्ञान प्राप्त थे । उनका अवधिज्ञान लूला-लगटा या भूला-भटका, अर्थात् विभग ज्ञान नहीं था । वह विशुद्ध ज्ञान था । उस स्थिति में भगवान् ने जो कुछ भी किया, वह सब क्या था ?

प्रागैतिहासिक काल के युगलियों की जनता को खाना तो जरूरी था ही, पर काम नहीं करना था । सर्दी से बचने के लिए कपड़ा या मकान कुछ भी चाहिए, जो आवश्यक ही था, किन्तु वस्त्र या मकान नहीं बनाना था । जीवन तो जीवन की तरह ही बिताना था, परन्तु पुरुषार्थ की आवश्यकता समझ में नहीं आयी थी । इसी स्थिति में चलते-चलते युगलियां-जन भगवान् ऋषभदेव के युग में आ गये । इस युग में कल्पवृक्षों के कम हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति में गड़बड़ होने लगी, फलस्वरूप जनता भूख में आकुल हो उठी । पेट में भूख की आग सुलगने लगी और तत्कालीन जनता उसमें भस्म होने लगी । उसे देखकर भगवान् के हृदय में अपार करुणा का झरना बह उठा और उन्होंने जनता की भूख की सुलगती समस्या को शांत किया । इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है

“प्रजापतियं प्रथमं जिजीविषु

शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।”

—बृहत्सव्यभूस्तोत्र

हां, तो भगवान् के कोमल हृदय में अपार करुणा का झरना बहा और उन्होंने देखा कि यह सारी जनता भूख की ज्वाला से पीड़ित होकर खत्म हो जायेगी, आपस में लड़-लड़कर मर जायेगी, खून की धाराएं बहने लगेंगी, तो भगवान् ने उस अकर्मण्य प्रजा को कर्म की

और पुनर्वास की नव-वेतना की तथा अपने हाथों-पैरों से काम-केवा
 शिक्षाया। सर्वस्व-विमुक्त प्रजा को कर्मभूमि से अक्षरविह्वल किया और
 नृपराज की समस्या को जगत् हाथों मुक्तमानों की सही शिक्षा शिक्ष
 काई। इनके समर्थों में वही तो इति-कर्म करना शिक्षाया।

जन्म का शाना और तब का कपण—दोनों इति से प्राप्त होते
 हैं। जिनकी की प्रमुख भावस्वरूपाएं कैवळ की ही हैं। जन्म और
 कपण। जन्म के दोलाहक में वही प्रविष्ट पृथ्वी है कि अतोनी और
 कपण चाहिए। शीत का सम्राट् नुरी महलों में जगत् कर रहा
 था और हवाओं की संख्या में प्रजा-जगत् भूख से कटपटाते नीचे के
 आवास कमाते हुए नुरी कि—“तोड़ी की या नहीं कोड़ी।”

वह आवास नुरीर सम्राट् ने पात में बैठे हुए महारंजी के मुख
 नवा जन्म से बनावत कर दी है? महारंजी ने कहा—“वह बनावत
 नहीं नाति है। और महारंजी के मुख से निकले हुए अन्धकार के
 संसार में फँक गये कि “भूख से बनावत नहीं इच्छित होना है।

हाँ तो जन्मान् जन्मरेव पत्ताकीन भूखी जगत् की देखकर
 कोरे आदर्शवाद में नहीं रहे न तब तब भूखी की जगत् का जगत्
 ही शिक्षा और न तब तब जगत् या संसार करने की इच्छा ही की।

जगत्वादी होने के नाते उन्होंने सोचा कि जगत् की बहिष्ता की
 रास्ते पर नुरी के आवा गया। तो वह महा-आरम्भ के रास्ते पर वही
 मार्गही और मोक्षाहार के नव नर बहकर और हिंसक हो मार्गही।
 एक बार बहिष्ता-हिंसा के नव नर बह पड़ी थी फिर बड़े मोक्ष
 मुक्ति हो गये। अतएव उन्होंने भूख के कारण महा-आरम्भ की
 और जगत् ही अन्धी जगत् जगत् की जगत् शिक्षा की और तब का
 प्रत्यक्ष शिक्षा।

आर्यत्व



जहां-जहां कृषि की परम्परा चली और अन्न का उत्पादन हुआ, वहां-वहां आर्यत्व बना रहा और महारभ न होकर अल्पारभ का प्रचलन हुआ। परन्तु जहां कृषि की परंपरा नहीं चली, वहां के भूखे मरते लोग क्या करते ? तब आपस में वंर जगा, और क्षुधाजन्म क्रूरता के कारण पशुओं को मारकर खाने की प्रवृत्ति चालू हो गई। वात्पर्य यही है कि—“कृषि 'अहिंसा' का उज्ज्वल प्रतीक है। जहां भी कृषि अग्रसर हुई है, वहां के जन-जीवन में उसने अहिंसा के बीज डाले हैं। और जहां कृषि है, वहां पशुओं की जरूरत भी अनिवार्यत रहती है, फलतः उनका पालन भी स्वाभाविक है। इस प्रकार कृषि अहिंसा के पथ का विकास करती रही है। कृषि के द्वारा प्रवाहित होने वाली अहिंसा की धारा मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं की ओर भी बही है। इस प्रकार जहां-जहां खेती गई है, वहां-वहां वह अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर गई और जहां कृषि नहीं गई, वहां अहिंसा का सिद्धान्त भी नहीं पहुंचा।

मेक्सिको के निवासी मछली आदि के शिकार के सिवाय कोई दूसरा काम-धन्धा नहीं कर पाते हैं। कल्पना कीजिये—यदि कोई जैन सज्जन वहां पहुंच जाये, तो देखेगा कि लोगों के हाथ रात-दिन खून से किस तरह रंगे रहते हैं, क्योंकि जानवरों का मांस चमड़ा, चर्वी आदि का उपयोग किये बिना उनके लिए कोई दूसरा साधन ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह जैन उन्हें जैन-धर्म का कुछ सन्देश देना चाहे, उस हिंसा को रोकना चाहे और यह कहे कि—मछली, हिरन, सूअर वगैरह किसी जीव को मत मारो, तो वे लोग क्या कहेंगे ? तब वे उससे पूछेंगे कि फिर हम खाए क्या ? और जब यह

मस्त साधने बाएवा लो बहु क्या उत्तर देना ? कल्पना सीमित, यदि आप स्वयं यहां पहुंच गये हों तो क्या उत्तर देने ? यदि आप उन्हें बहिष्कृत बनाना चाहते हैं तो क्या प्रयास करेंगे ? क्या आप उन्हें यहां के लिए आमरण मंजारी के रूप में "बोसिरे-बोसिरे" करवा देंगे ? यदि नहीं तो वे भूख पीथित रहकर क्या करेंगे ? क्या जाएंगे ? तब वह मस्त कैसे हूक होना ? यदि जीवन के लिए कोई समुचित व्यवस्था नहीं करने तो आप पाषाण बनकर ही छोटेने ।

आपने बहिष्तात्मक समुच्च बहुरूप के गाते कृपि फिटनी गुम्बर चीज है । फिर भी बनेक स्थिति कृपि को भी महारम मझते हैं जब कि कृपि "अहिष्ता" का आदर्श लेकर चली है । उसने मानव-वांछि को कर कर बहू होने से रोका है । मनबासी होने से बचाम्मा है और उसमें आदर्श आपरिष्ठा के बीच आते हैं । उससे समुच्च की सामा-यिक प्रगति हुई है और यहां कृपि नहीं फैली यहां के जीवन बोर हिंसक भांस मझी और गरमांस-मझी तक बन बन है ।

स्वामांय आदि आस्त्रों से भी प्रकार के विभिन्न गुम्बों का वर्धन है । जवमें भी सबसे पहले "बल-गुम्ब" बरकावा क्या है और जब स्कार-गुम्ब का सबसे बाहिर से आक दिया क्या है क्योंकि जब पहले बल पैट से गये तो पीछे समस्कार करने की मुझे । जब पैट में बल ही नहीं होता और उसके लिए हृदय तककता रहता है तो जीवन फिटकी समस्कार करता है ?

जबः गुम्ब-आवना के द्वार पर जब से पहले बल-गुम्ब ही बढ़ा है, और दूसरे तक गुम्ब उसके पीछे चले जा रहे हैं । तब बल के उत्पादन को ही महारम और गरक का आर्ष बताया बुद्धि का विकास नहीं तो और क्या है ?

त्याज्य नहीं



वैदिक-धर्म के उपनिषदों और पुराणों का मैंने अध्ययन किया है। उपनिषद् कहते हैं—“अन्न वै प्राणा” अर्थात् “अन्न प्राण है।” इस सम्बन्ध में सुविख्यात सन्त नरसी मेहता ने भी कहा है—

“भूखे भजन न होहि गोपाला,
यह लो अपनी कठी माला।”

कोई भूखा रहकर यदि माला पकड़ेगा भी, तो कब तक पकड़े रहेगा ? भूख के प्रकोप से वह तो हाथ से छूटकर ही रहेगी। इसी-लिए सन्त नरसी ने ठीक ही कहा है कि—गोपाल, अब भूखे से भजन नहीं होगा। लो, यह अपनी कठी और लो, यह माला भी सम्हालो। अब तो रोटी की माला जपूंगा और सब से पहले उसी के लिए प्रयत्न करूंगा।

इस प्रकार वैदिक-धर्म “अन्न को प्राण” कहता है और जैन-धर्म अन्न के दान को ‘सब से बड़ा दान’ सर्व प्रथम दान मानता है और भूख के परीषद् की पूर्ति को पहला स्थान वतलाता है। इस तरह से एक-से-एक कठिया जड़ी हुई हैं। इस अन्न की प्राप्ति कृषि से ही होती है, और इसी कारण भगवान् ऋषभदेव ने युग की आदि में जनता को कृषि कर्म सिखाया और बताया। जैन-शास्त्रों में कहीं भी जन-साधारण के लिए कृषि को त्याज्य नहीं कहा गया है।

अन्न का महत्व



घर पर जो बचाने दिए रोटी अनिवार्य है। और रोटी वाली बन्न न हो तो मानव जीवन नहीं रह सकता। अगर खाया और घर पर नाच खाए रह सकते हैं तो रोटी के साथ महिला का जो संबंध रह सकता है। रोटी और महिला मानव न विरोधी चीज नहीं है। हम दोनों में सामंजस्य रह सकता है। यदि ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते तो या तो हमें महिला वाली मानव की अवस्था से बचिष्ट रहना पड़ेगा या हमें घर पर की कृपा से वाली राटी से बचिष्ट रहना पड़ेगा। दोनों ही स्थितियों में जीवन अनभव है। मानव और घर के सहवास से ही जीवन नभव है। इसलिए हमें कोई ऐसा रास्ता निगमना ही होना जिससे महिला और रोटी दोनों का सह-अस्तित्व नभव हो सके।

वर्तमान जीवन का आधार रोटी है। यह तो विनिश्चय ही है। किन्तु रोटी खंटी चाहिए, निम रूप में चाहिए और वह कहाँ से आनी चाहिए, वे प्रश्न महत्व के हैं। यदि रोटी प्राप्त करने के लिए हम महा-हिंसा या महा-मारण करते हैं तो वह रोटी अन्न रोटी वाली हिंस्रान्न रोटी होती और कृपा अन्न हिंसा की प्रेरणादायक करने वाला होता। अगर सर्वोपनि ईश से आर्थिक प्रदान है और सम्पन्न नाशीविक्रम से रोटी प्राप्त हुई है तो वह हिंसा से महिला की और बचने के लिए सहायक बन सकेगी।

रोटी कमाने के साथ अनेक सामग्री है। कुछ चीजा सपटी कुछ पार और कोचन के अनेक ऐसे तरीके हैं जिनके माध्यम से रोटी प्राप्त

की जाती है। जिम रोटी के पीछे शोषण और अनैतिकता है, वह रोटी आत्मा की खुराक के साथ यानी अहिंसा के साथ नहीं चल सकती। रोटी अमृत भी है और जहर भी है। यदि वह शुद्ध साधनों से ओर सम्यक् आजीविका द्वारा उपाजित रोटी है, फिर वह चाहे रुखी-सूखी ही क्यों न हो, अमृत तुल्य है। परन्तु दुनिया भर का सुन्दर भोजन चाहे मिल जाय, पर यदि वह भोजन प्राप्त करने के लिए किसी की हिंसा हुई है, किसी का शोषण हुआ है, या किसी का खून बहाया गया है, तो वह मधुर मिष्ठान्न भी जहर के समान ही है।

अनार्य मार्ग

❧

भगवान् ऋषभदेव ने कहा है कि अनार्य मार्ग से रोटी पैदा मत करो। जहाँ दूसरों का खून बहाया जाता है, वह अनार्य मार्ग है। मजदूर का शोषण करना, किसी का हक छीनना, सट्टेबाजी करना, जुआ खेलना आदि सब अनार्य कर्म हैं। इन अनार्य कर्मों के माध्यम से जो रोटी आयेगी, वह अपने साथ पापों की गठरी लेकर आयेगी और जीवन को पतित करेगी।

हमारे यहाँ “प्रासुक” शब्द की बड़ी चर्चा है “प्रासुक” वे काम कहलाते हैं, जिनमें हिंसा न हो या अत्यल्प हो। दो जुएबाज आमने-सामने बैठे ताश के पत्तों से खेल रहे हैं। हर बाजी की समाप्ति पर हजारों दे रहे हैं और हजारों ले रहे हैं। इसमें स्थूल रूप से देखा जाय तो किसी की हिंसा नहीं होती। परन्तु जुआ खेलना अत्यन्त हीन कार्य, अनार्य मार्ग और एक नीचातिनीच दुर्व्यसन माना गया है। इसलिए “प्रासुक” क्या है इसको भी अच्छी तरह से समझना पड़ेगा। जुआरी का अन्त करण कितना क्लेशमय, व्याकुल रहता है और जुए की बदौलत मन की वृत्तियाँ कितनी दूषित होती हैं, समाज का पुरुषार्थ कितना गिरता है, इन सब चीजों को लक्ष्य में रखकर ही जुआ खेलना

पाप बढ़ाया गया है। इन कथाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा का संबंध विनया मन की वृत्तियों से है। उठना बाह्य व्यवहारों के नहीं।

अन्ध का अभी भी अन्धकार नहीं करना चाहिए। उपनिषदों में कहा गया है कि 'अन्ध न निघात्' यानी अन्ध की अन्धेखना और निम्ना नहीं करनी चाहिए। इनीक्षिप् भारतीय संस्कृति में बहुत छोड़ना भी पाप माना गया है; क्योंकि उसके अन्ध का अन्धकार होता है। अन्ध का एक एक दाग धोने के दागे से भी ज्यादा बढ़ता है। धोने के अन्धकार में कोई नर नहीं उठता परन्तु अन्ध के अन्धकार में हजारों आत्माएँ नष्ट हो गई हैं। अहिंसा अन्ध न रहा तो वे सभी प्रभावित हो जायेंगे। इसलिए अन्ध के महत्त्व को ठीक तरह से समझना चाहिए और हमके अनुसार जीवन में जो अन्ध की समझना है उनके समाधान का उपाय निकालना चाहिए। /

विज्ञान खेती-बाड़ी का रखा करता है। पशु पक्षि के द्वारा रोटी कमाता है और पशु होठे हुए भी अन्ध नीति की परीक्षा के रखा है। इसका परिहार कदाई ना है। उसके गहरे हीरे और अन्धकार के डेर करने रखते हैं। यह सब सभी अन्धकार आत्म-अन्धकार के दाग जीवन बिछाया है। कन दोषों में खेपठ नीति है? क्या यह निकले महा मन का डेर बना हुआ है? या यह भी पशु है, नर पशुपति है और कृषि करता है? इस अन्ध का अन्धकार स्पष्ट है। मन का महत्त्व नहीं है अन्ध का महत्त्व है। यह कदाई को भी अन्ध विज्ञान के दाग का अन्धकार के दाग नीति। बिना अन्ध के यह अन्धकार प्रचुर मन के अन्धकार नहीं मिटा सकता और अन्धकार को भी सुरक्षित नहीं रख सकता।

दो यात्री चले जा रहे हैं। जंगल में भटक गये। उन दोनों को भूख लगी। भूख के मारे छटपटाते हुए वे चल ही रहे थे कि उन्हें अकस्मात् दो थैले मिल गये। उन दोनों थैलो को वे यात्री आपस में एक-एक वाट लेते हैं। दोनों अपने-अपने थैले को खोलते हैं। एक में भुने हुए चने निकलते हैं और दूसरे में हीरे मोती। इन दोनों यात्रियों में कौन भाग्यशाली है ? क्या वह, जिसे करोड़ का धन मिल गया ? या वह, जिसे भूख बुझाने के लिए भूने हुए चने ही मिले ?

जिस अन्न का इतना महत्त्व है, उसकी निन्दा करना सर्वथा अनुचित है और पाप है। अन्न के उत्पादन को महा पाप बताना, स्वयं ही एक महा पाप है। जिस देश में बच्चों, बूढ़ों, महिलाओं और जवानों को खाना नहीं मिलता, उस देश की व्यवस्था करने वालों के लिए वह एक बड़ा अपराध है। खाने की मात्रा कम मिलना, व्यवस्था को दोषपूर्ण सिद्ध करता है और पाप को प्रगट करता है। अन्न की कमी का पाप अन्य हजारों पापों को पैदा करने वाला है।

पृथिव्या त्रीणि रत्नानि जलम्, अन्नं, सुभाषितम्
मूढं पापाणस्त्रण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते॥

इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं। जल, अन्न और सुभाषित वाणी। जो मूढ़ हैं जो अज्ञानी हैं, वे पत्थर के टुकड़ों में रत्नों की कल्पना करते हैं।

भात का यह यथार्थवादी आश्चर्य अन्न की गणना रत्नों में करता है। उस की दृष्टि में दूसरे सब रत्न पत्थर के टुकड़े हैं, अन्न ही मौलिक रत्न है। उस पर ही सारी सृष्टि का आधार है। यदि खाने को अन्न मिलता है तो धन कमाने के लिए हाथ भी उठेगा और यदि पेट में अन्न नहीं है, तो किसी भी काम के लिए प्रेरणा नहीं मिलेगी।

जान की उरेला जीवन की उरेला है। जान का अपमान करने वाला राष्ट्र सबसे अपमानित होने को बुझिका तैयार कर रहा है। जिस देश के लोग जान की हीन दृष्टि से देखते हैं उस देश के लोगों को बुझिका की हीन दृष्टि से देखने लगती है।

सोज करें



यह जान का महत्व है। इसलिए एक के महत्व को अस्वीकार न कर जान प्राप्त करने में जिस तरह हिंसा बच हो और हम हिंस्र तरह अहिंसा की ओर बढ़ें इसकी सोच करनी चाहिए। जिस तरह के आर्थिक युग में मुख्यतः शांतिवाद का और पिछार का प्रचलन का वैश्व विचारपीठ लोगों ने अनुमान कर के दुविधा का आविष्कार दिया उसी तरह वह जगह भी हम की सोच आती रहनी चाहिए कि जान को प्राप्त करने के लिए जिस तरह हिंसा को बच दिया जाय और अहिंसा की तरफ प्रवृत्ति की जाय। आज हमने यह अनुभव प्राप्त किया कि दुविधा की हीन दृष्टि अनेक भय उत्पन्न हो रहे हैं। दुविधा को भी हमें तितल दिया जान और त्याग्य बनना जान पड़ा गया है। अगर हमारा विशेष वैश्वविषय है तो हम तितल बने-जने अनुभव प्राप्त करेंगे और अहिंसा की दिया से बढ़ने के लिए बने-जने मार्ग सोच विचारेंगे।

विज्ञान-युग



आज विज्ञान का युग है। अनुभव गति पर विज्ञान आज कर रहा है। पहली बार लालची पर और आलस पर अनुभव विज्ञान पर विज्ञान आज करता का रहा है। विज्ञान की उपायों की लायने में

वह सफल हो गया है। समुद्र की गहराई को मापने में भी वह दक्षता प्राप्त कर चुका है और आकाश की अनतता को भी आज अपनी भुजाओं में वह बाध लेना चाहता है। गहो और नक्षत्रों पर भी वह अविकार कर लेना चाहता है। इस तरह से भौतिक क्षेत्र में विविध प्रयोग और विविध अन्वेषण चल रहे हैं। तब आध्यात्मिक क्षेत्र में और अहिंसा के क्षेत्र में मनुष्य ने अपने प्रयोग करना बंद क्यों कर दिया है, यही आश्चर्य की बात है।

वर्तमान समाज की एक सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है कि आज के विचारक धर्माधर्म की मध्यकालीन पुरानी परम्पराओं के आधार को छोड़कर नये सिरे से कोई भी विचार न तो ग्रहण करने को तैयार हैं और न नया चिंतन करने को ही प्रस्तुत हैं। जो हमारे पतन काल की विचारधारा घिसी-पिटी चली आ रही है, उसीकी पकड़ आज भी चल रही है। इसीलिए धर्म 'अपटु डेट' नहीं रहकर 'आउट आफ डेट' बनता जा रहा है। आज के युवकों में और आज के बुद्धिजीवी विचारकों में इस धर्म के प्रति धीरे-धीरे अनास्था और अश्रद्धा होती जा रही है। परन्तु यदि हम लोग नई दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से और ताकिक दृष्टि से धर्म को जीवन का उपयोगी तत्त्व बनाये और मानवता के प्रश्नों पर उदारतापूर्वक सोचें, तो धर्म की उपयोगिता को प्रत्येक व्यक्ति अवश्य स्वीकार करेगा। यही बात अहिंसा और श्रुति के सम्बन्ध में लागू होती है। इस सम्बन्ध में हमने नया चिंतन तो किया नहीं और पुराने चिंतन को समझा नहीं, इसलिए सारे भ्रम पैदा हो रहे हैं। अब समय आ गया है कि जब हम उन भ्रमों को दूर करें और तटस्थ दृष्टि से विचार कर के सत्यासत्य का निर्णय करें।

अहिंसा की उपलब्धि



हिंसा और अहिंसा का प्रश्न तो हमेशा बटिल है कि जब तक महात्मा ने पहुँचकर हम झीक-झीक विचार नहीं कर सके तब तक प्रत्यक्ष वास्तविक हमारे सामने नहीं आ सकती। प्रायः ऐसा जाता है कि लोग धर्मों को पकड़कर बंध पड़ते हैं। बल्लभ बनके हुए वे किसी धर्म का केवल एक छोटा भाग ही रूढ़ जाता है और बसका एक धर्म निष्ठता जाता है। तब बल्लभ कोई मूल्य नहीं होता। वह तो केवल भार है। हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में भी आवश्यक नहीं कुछ ऐसा जाता है। प्रायः लोग हिंसा-अहिंसा के धर्मों को ऊपर ऊपर से पकड़ कर बैठ गये हैं। इस कारण इन धर्मों के भीतर का सर्व धर्मों के सम्बन्ध में नहीं आ सका।

यह एक बड़ी चर्चा है। प्रायः लोग जब इस प्रश्न पर विचार करने के लिए धर्मों के बन्ने पकड़ते हैं, तो पहले वे ही कुछ संकल्प रखकर पकड़ते हैं और जब इस तरह पकड़ते हैं, तो प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष एक और बल्लभता है। तब धर्मों की आवाज सुनी और सुनाई देती है। ऐसी स्थिति में प्रायः संकल्प की आवाज मूल की जाती है और धर्मों की आवाज के स्वर दूर हो जाते हैं। परन्तु इससे हमें लाभ नहीं आती है, वास्तविकता का पता नहीं चलता। किन्हीं धर्म-संशोधन नाम ही जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी भी धर्म पर विचार

करते समय हमारी बुद्धि निष्पक्ष हो क्योंकि तटस्थ बुद्धि से ही सच्चा निर्णय प्राप्त हो सकता है ।

पहले हमारी बुद्धि विकसित थी, तो हम आग्रह को, अहंकार को और किसी भी व्यक्ति विशेष को महत्त्व न देकर केवल सत्य को ही महत्त्व देते थे और सत्य की ही पूजा करते थे । जहां सत्य की पूजा होती है, वहां ईश्वर की प्रतिष्ठा है । किसी देवालय में नारियल चढ़ा देना, नैवेद्य चढ़ा देना या मस्तक झुका देना सच्ची ईश्वरोपासना नहीं है, किन्तु मन-वचन-कर्म से सत्य की पूजा करना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है ।

जो मनुष्य तटस्थ भाव से आगे बढ़ता है और अपने बद्धमूल मान्यताओं के आग्रह को ठुकरा देता है और उसके बदले में सामने आने वाले सत्य के समक्ष नत-मस्तक हो जाता है, वही मर्म को पा सकता है । वही अपने जीवन को कृतार्थ कर सकता है । चाहे वह तरुण हो या बूढ़ा, गृहस्थ हो या साधु, वह अपने आप में बहुत ऊपर उठ सकता है । उसके जीवन की गति ईश्वरीय प्रगति है । वह अपनी महत्ता को अधिकाधिक ऊंचाई पर ले जाता है और गिरावट की तरफ अग्रसर नहीं होता ।

इसीलिए हमारे आचार्यों ने यह कहा है कि आप व्यक्ति को महत्त्व क्यों देते हैं ? हमारे गुरु ने ऐसा कहा या वैसा कहा, ऐसा कहकर आप एक ओर तो लाठियां चलाते हैं तथा दूसरी तरफ सत्य, जो तटस्थ भाव से सन्मार्ग का निर्देशन कर रहा है, उसकी पुकार तक नहीं सुनते । इस सोचनीय स्थिति को देखकर दुःख होता है कि यह कैसी गड़बड़ चल रही है । अतएव हमें भली भांति समझ लेना चाहिए कि सत्य का महत्त्व सर्वोपरि है और उसकी तुलना में व्यक्ति का जो महत्त्व

है, वह केवल शत्रु की ही बरीकत है। सम्प्रदाय का शत्रुत्व का और व्यक्ति का बहुत्व एक मात्र शत्रु के ही पीछे है। शत्रु का बहुत्व ही व्यक्ति को बहुपक्षीय बना है।

इस सम्प्रदाय में धर्माचार्य बहुत बड़ी बात कह रहे हैं। धर्माचार्य हरिजन बने ही बहुपक्षीय विद्वान् ही बने हैं, किसी विद्वत्ता को महा पाद की काली छाया की बुझा नहीं बना सकी। उनकी जगह नहीं है। उनके सामने एक ही है। वे कहते हैं :

“अज्ञाना तो न मेरी, न होव कलिकालिनु ।

मुक्तिमार्गदर्शक परम सत्य कर्मः परिच्छेद ॥

धर्मशास्त्र महावीर के प्रति होने व्यक्तिगत बख्शावत नहीं है। वे हमारे साथ बिरादरी के नहीं और हमें-सम्प्रदायी भी नहीं है। तथा व्यक्तिगत धर्म को मान्य नहीं हो चुके हैं, उनके प्रति हमें केवलमान की होव और बूझा नहीं है। जो भी मान के जगहक मान एक प्रकार में माने हैं, हम सब उसके विचारों का उत्पन्न प्रति से सम्प्रदान करते हैं, उन सबकी मानों का चिन्ता धर्म और विवेकमान करते हैं। उनके विचार सत्य की विवेक कभीभी नर करे उत्पन्न हैं, मुक्तिमुक्त कर्म है सभी के विचारों को विवेक मान से हम स्वीकार करते हैं और सभी का मान-सम्मान भी करते हैं।

ऐसा मान्य पड़ता है कि धर्माचार्य ने धर्मशास्त्र को भी बरीकत की तराजू पर रख दिया है। क्योंकि धर्माचार्य सब सत्य को पीछे रखे हैं जो बहिर्गो के और सहजातिवर्गों के बराबर टीका का रहा है। यदि इस तराजू पर किसी सम्प्रदायविशेष को टीका मान तो वह टीका नर बुरा नहीं बतलाता है। क्योंकि चित्त में ही सम्प्रदाय है। धर्म शास्त्र की अपेक्षा धर्माचार्य की बख्शावत हीरी है। धर्म बड़ा धर्माचार्य की बख्शावत है, वह सत्य का सच्चाकार कर्म है।

असीम अनुकम्पा



अस्तु, कथन का आशय यही है कि दूसरे सम्यक्त्व में तो विचार-सम्बन्धी आशिक मेल चल सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व में अणु-मात्र भी नहीं खप सकता। भगवान् ऋषभदेव की प्रवृत्ति क्षायिक सम्यक्त्व की भूमिका से आरम्भ हुई है और जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है, वहाँ असीम अनुकम्पा है। ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि सम्यक्त्व तो प्रगट हो, परन्तु अनुकम्पा प्रदर्शित न हो ? यह कदापि सम्भव नहीं है कि सूर्य हो, परन्तु प्रकाश न हो, मिश्री की डली हो, किन्तु मिठास न हो। ऐसी असंगत बात कभी बनने वाली नहीं है। तो निष्कर्ष यही निकला कि सम्यक्त्व के साथ अनुकम्पा का अविच्छिन्न सम्बन्ध है अर्थात् अनुकम्पा के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। अनुकम्पा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब इस दृष्टि से विचार करेंगे तो स्पष्ट अनुभव होगा कि भगवान् की जो भी प्रवृत्तियाँ हुई हैं, उनके पीछे अनुकम्पा तो अवश्य ही रही होगी। दया का क्षरता तो निरंतर बहता ही रहा होगा और उस बहाव के साथ सारी क्रियाएँ भी हुई होगी। तो उस युग की तत्कालीन परिस्थितियों में, जब कि जनता पर विपत्तियों के घने बादल छाये हुए थे, भयानक सकट मुहँ बाये खड़ा था और लोगो को अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे, आखों के सामने साक्षात् मौत नाच रही थी, उस सकट काल में भगवान् ऋषभदेव ही एकमात्र सहारे थे, वे ही जनता के लिए आशा की प्रकाश-किरण थे। कर्णानिधि भगवान् ने जनता को उस भीषण सकट से उबारने के लिए ही कृपि सिखायी, उद्योग-धन्धे सिखलाए और शिल्प-कार्य बतलाये। भगवान् की यह प्रवृत्ति किस रूप में हुई ? वस्तुतः वह हिंसा के रूप में नहीं हुई, जनता को गलत

भी पैदा नहीं था। बड़ा नहीं भी बोझी-बहुत सक्रियता होती है वहाँ। सम्पूर्ण सम्बन्ध बनेक प्रकार का होता है और वहाँ पूर्णता है वहाँ भेद नहीं होता। वही कारण है कि अहिंसा आदि आध्यात्मिक शक्तों के वहाँ पैदा होने के बिनाये नहीं है, वहाँ आध्यात्मिक शक्ति 'सर्वत्र' का एक ही प्रकार का बताया गया है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक सम्बन्ध के भी अर्थक्य भेद है वह आध्यात्मिक सम्बन्ध के ही वह विविधता क्यों आई? यदि इसमें विविधता मोहनीयत्व के कारणों का कारण भी पैदा होता तो अन्तर्गत ही किसी-किसी शक्ति में भेद उत्पन्न हो जाता। वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अविश्वसनीयता है और वहाँ अविश्वसनीयता एवं अविश्वसनीयता है। आध्यात्मिक सम्बन्ध की शक्ति इसमें निहित है कि वहाँ सर्वत्र सम्बन्धी शक्तियों का पैदा अनुमान भी नहीं रहा तो वह अविश्वसनीयता ही कहा हो जाता है।

हो तो अविश्वसनीयता के विभिन्न आध्यात्मिक सम्बन्ध प्राप्त का। अन्तर्गत अनुमान कीविधि कि वहाँ के लिए किसी अनुमाना होगी चाहिए? हम अविश्वसनीयता के अनुमाना और अविश्वसनीयता के सम्बन्ध के ही अन्तर्गत है। किन्तु जो अनुमान अविश्वसनीयता हुआ है और अविश्वसनीयता के परस्पर की बातों है वह है अनुमान।

अन्तर्गत के अन्तर्गत में किसी शक्ति अविश्वसनीयता और किसी अनुमाना की? उनके अन्तर्गत में अन्तर्गत का कारण कहा गया था। वे भी भी अन्तर्गत करते उनके वहाँ ही अविश्वसनीयता ही, परन्तु उन शक्ति के पीछे भी अन्तर्गत किसी शक्ति की। अन्तर्गत अन्तर्गत कि अन्तर्गत और अन्तर्गत की एक शक्ति का रहा है। किन्तु ऐसा नहीं है। शक्ति तो अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत का कारण है होती है परन्तु अन्तर्गत में तो शक्ति और अन्तर्गत का अन्तर्गत अन्तर्गत अन्तर्गत है।

जोर, अन्तारम्भ की जोर ही जानें। यदि वे अन्तारम्भ में महारम की ओर न जाने, तो दुःसा वध होता "प्रवाद में बाधकार की ओर ले गए।" उन्होंने बोली, भूमी और गमस्त जनता को ऐसा पतन्य बताया कि यह महारम में वन जाय। बाध ही पेट की जटिल समस्या भी हल कर नये जोर अपनी जोरन-पद्धति का मानवोचित प्रशस्त पथ भी अच्छी तरह ग्रहण कर ले।

अनिवार्य



आज भी उद्योग धंधों के रूप में जो हिंसा होनी है, उसमें इन्कार नहीं किया जा सकता। जैन धर्म छोटी-छोटी प्रवृत्ति में भी हिंसा बताता है। गृहस्थों की बात जाने भी दें, और बैरल समार-त्यागी साधुओं की ही बात लें, तो उनमें भी शोध, मान, माया और लोभ के विकारयुक्त भ्रम मौजूद रहने हैं। उमीलण उन्हें भी पूर्णतया अहिंसा का प्रमाण-पत्र नहीं मिल जाता है। साधु-जीवन में भी "मायावत्तिया" प्रिया चानू रहती है। जब पूरा अप्रमत्त अवस्था आती है तो आरभिया क्रिया छूट जाती है, किन्तु हिंसा फिर भी बनी रहती है और आगे भी जारी रहती है। यद्यपि उस हिंसा में आरम्भ छूट जाता है। उस दशा में हिंसा रहती है, पर आरम्भ नहीं रहता यह एक मार्मिक बात है। इस मर्म को बराबर समझने की कोशिश करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वहाँ गमनागमनादि प्रवृत्ति में द्रव्य-हिंसा के भाव न होने से भाव-हिंसा नहीं है। ज्यों ही साधक जागृत होता है, त्यों ही उसमें अप्रमत्त भाव उत्पन्न हो जाता है। जब अप्रमत्त भाव होता है, तब भी बाह्य क्रिया स्वरूप द्रव्य-हिंसा तो बनी रहती है, किन्तु उसमें आन्तरिक भाव-हिंसा नहीं रहती।

स्फोट-कर्म



खेती में महारभ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समग्र जैन साहित्य में “फोटीकम्मे” ही एक ऐसा शब्द है, जिसने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमें “फोटीकम्मे” के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। “फोटी” शब्द मम्भृत के “म्फोट” शब्द से बना है, जिसका अर्थ है घटाका होना। जब सुरग खोदकर उसमें वास्तु भर दी जाती है और तदुपगन्त उसमें आग लगाई जाती है, तो घटाका होता है और बड़ी-से-बड़ी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर धधर-उधर उछलकर दूर जा गिरती है। आज के अखबार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर वास्तु बिछा देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि वास्तु के द्वारा घटाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है। न केवल पहाड़ तोड़ने के लिए बल्कि युद्ध में भी बमों का स्फोट (विस्फोट) होता है। आजकल तो अणु बम-विस्फोट पूरी मानव-जाति के लिए खतरे की घण्टी है। इस तरह के घार हिंसाजन्य स्फोट कर्म का निषेध होना ही चाहिए। परन्तु कृपिकार्य को स्फोट कार्य मानना सर्वथा भूल है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं होता। खेती में वास्तु भरकर आग नहीं लगाई जाती, वह तो हल से ही हो जाती है। मैंने एक बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को “जोतना” कहा जायेगा या “फोड़ना” कहा जायेगा ? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग कौनसा है ? उस बालक को भी “जोतना” प्रयोग ही सही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोड़ी नहीं जाती। हल से जमीन

यह देखना चाहिए कि जीवन के काम में व्यापक जब उद्योग-धर्म के रूप में कोई काम करता है तो वह उसी कार्यविधि द्वारा ही वृद्धि से ही होती है या उसमें उद्योग धर्म की वृद्धि की कुछ काम करती है ? उसके व्यवसाय का उद्देश्य केवल धनी की मारना होता है या उद्योग धर्म के ही मूल उद्देश्य की लेकर व्यापार करता होता है ?

इसके सम्बन्ध में भी यही वृद्धि रखकर सोचना चाहिए । देश के संकष्टों निवारण बहुत दूरे ही उत्तर पक्षों में जान करने वाले हैं । हमने पञ्जाब में एक और उत्तर प्रदेश के बीच निवासियों को देखा है । वे इसका काम करते हैं और प्रायः बड़े ही धानपूर्ण तथा सज्जन होते हैं । मजदूर हैं वह बड़ा व्यापारियों में बड़े किन्तु अपने ही इलाका में हैं और उनके द्वारा प्रयत्न से इतने बड़े हुए होते हैं कि निम्नका धर्म नहीं किया जा सकता ।

वे खेती का काम करने वाले लोग जब प्रातःकाल हुए केकर काम करते हैं वह समय कीमती धारणा उनके द्वारा वे काम करती हैं ? क्या वे इस वृद्धि से बचते हैं कि खेती में भी बहुत दूरदर्श हो गये हैं अब बचकर धीमे ही उनको समाप्त किया जाए ? नहीं, वहाँ तो उद्योग की वृद्धि होती है । यदि वृद्धि के विवेक और विचार हैं तो वह कुछ कारणों से भी संघर्ष समाधान की दृष्टि प्राप्त कर केता है । कहने का मतलब यही है कि इसका कारण का समाधान केकर नहीं कहा है । अब वह काम कर रहा है, पर वह वृद्धि नहीं होती है कि इन धनी की मार बाध । हिंसा करने का असर सफल बताया नहीं है हिंसा करने के लिए वह प्रवृत्ति भी नहीं करता है । उसका एकमात्र उद्देश्य "बन्धा" करना है, जीवन-विधौ करवा है ।

स्फोट-कर्म



खेती में महारभ है, इस प्रकार का भ्रम कैसे उत्पन्न हो गया ? समग्र जैन साहित्य में “फोडीकम्मे” ही एक ऐसा शब्द है, जिगने इस भ्रम को उत्पन्न किया है। पर, हमें “फोडीकम्मे” के वास्तविक अर्थ पर ध्यान देना होगा। “फोडी” शब्द नग्नता के “स्फोट” शब्द से बना है, जिगका अर्थ है घडाका होना। जब सुरग खोदकर उसमें बारूद भरी जाती है और तदुपगन्त उममें आग लगाई जाती है, तो घडाका होता है और बड़ी-मे-पटी चट्टान भी टुकड़े-टुकड़े होकर धधर-उधर उगलकर दूर जा गिरती है। आज के अग्यवार पढ़ने वाले जानते हैं कि अमेरिका और रूस आदि के वैज्ञानिक लोग जमीन के अन्दर बारूद बिछा देते हैं और जब उसमें चिनगारी लगती है तो विस्फोट होता है। आशय यही है कि बारूद के द्वारा घडाका करना विस्फोट या स्फोट कहलाता है। न केवल पहाड़ तोड़ने के लिए बल्कि युद्ध में भी बमों का स्फोट (विस्फोट) होता है। आजकल तो अणु बम-विस्फोट पूरी मानव-जाति के लिए खतरे की घन्टी है। इस तरह के धार हिंसाजन्य स्फोट कर्म का निषेध होना ही चाहिए। परन्तु कृपिकार्य को स्फोट कार्य मानना सर्वथा भूल है।

खेती करते समय विस्फोट नहीं होता। खेती में बारूद भरकर आग नहीं लगाई जाती, वह तो हल से ही हो जाती है। मैंने एक बालक से प्रश्न किया—किसान खेत में हल चलाता है। इसके लिए जमीन को “जोतना” कहा जायेगा या “फोडना” कहा जायेगा ? इन दोनों प्रयोगों में से शुद्ध प्रयोग कौनसा है ? उस बालक को भी “जोतना” प्रयोग ही मही मालूम हुआ। आशय यह है कि हल के द्वारा जमीन जोती ही जाती है, फोडी नहीं जाती। हल से जमीन

का छोड़ना तो दूर रहा कभी-कभी तो जमीन छोड़ी भी नहीं जाती। छोड़ना तब कहलाता है जब पहुँचा पहुँचा किया जाय। हाँ एक से जमीन फुरेरी करके जा सकती है।

व्याकरण का मुझे ज्ञान है। बाबा तो नहीं करता परन्तु व्याकरण के पीछे कई वर्ष मुलावे अवश्य हैं। अतः इस मार्गें बोलने का साहस कर रहा हूँ और कुलीनी के माथ कहता भी हूँ कि छोड़ना, छोड़ना और फुरेना अक्षय-अक्षय निवास है। छोड़ना अपने या कुशल से होता है एक से छोड़ना या छोड़ना नहीं होता।

संस्कृत भाषा के कृषि शब्द की ही के जमीनें। कृषि का अर्थ होता है "विशेषण" "इप्" वातु फुरेने के अर्थ में ही जाती है। तथा पाणिनि व्याकरण और तथा धातुशास्त्र-व्याकरण सर्वत्र "कृप्" वातु का अर्थ "विशेषण" ही किया गया है।

अधिकांश यह है कि जमीन को छोड़ना "छोड़ीकर्म" के अन्तर्गत नहीं है। "छोड़ीकर्म" का संस्कृत रूप स्फोट कर्म होता है और फुरेना प्रकार से यह स्पष्ट है कि जमीन में एक बकासा न तो स्फोट करता है और न छोड़ना ही क्योंकि जमीन छोड़ते समय न तो बकासा किया जाता है और न पहुँचे ही जिसे करते हैं।

सही अर्थ



वास्तव में स्फोटकर्म तब होता है जब मुरख छोड़कर उसमें बाज्र चरकर एवं बाज्र बजाकर बनाया किया जाता है। गहरों में बाज्र छोड़ने का नाम बहुत गुरुतम गुण से बना जा रहा है। इचोरी और पाबरी में विद्यालयादि गहर वहाँ तक लीरे जा सकते हैं। अस्तु उनमें कर कर के बाज्र चर भी जाती है और ऊपर से बाज्र बजा भी

जाती है। जब वारूद में आग भड़कती है व चट्टानें टूट-टूटकर उछलती हैं तो दूर-दूर तक के प्रदेश में रहने वाले जानवर और इन्सान के भी कभी-कभी प्राण ले बैठती हैं। कितने ही निर्दोष प्राणियों के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं और कितने ही बुरी तरह घायल हो जाते हैं।

ऐसे स्फोटों से पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी कुछ ठिकाना नहीं रहता। कभी-कभी जोरदार घड़ाके से पहाड़ भी खिसक जाते हैं, और न जाने कितने मनुष्य दबकर मर जाते हैं, जिनका फिर कोई पता ही नहीं चलता। ऐसा स्फोटकर्म महारभ है, महा-हिंसा है।

ऐसे कामों में पचेन्द्रिय की, और पचेन्द्रियों में भी मनुष्यों की हत्या का सम्बन्ध है। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्फोटकर्म को महान् हिंसा में गिना। श्रावक तो कदम-कदम पर करुणा और दया की भावना को लेकर चलता है, अतः उसे यह स्फोटकर्म शोभा नहीं देता। भगवान् महावीर का यही दृष्टिकोण था। परन्तु दुर्भाग्य से आज उसका यथार्थ अर्थ भुला दिया गया है। इसके बदले इधर-उधर की कुछ निरर्थक बातें लेकर चल पड़े हैं। जन-हित के लिए कु-आ खुदवाना भी महारभ माना जाता है और यदि कोई लोकोपकारी काम किया जाता है तो उसे भी महारभ बताया जाता है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि यदि कोई जैन राजा हो जाय, तो वह जनता के हित का कोई काम नहीं कर सकता, क्योंकि महारभ हो जायेगा। और जनता के सम्बन्ध में यदि कोई कुछ भी विचार न करे तो वह एक प्रकार से निर्जीव मांस का पिण्ड ही माना जायेगा। मनुष्य खुद तो दुनिया भर का भोग-विलास करता रहे, किन्तु जनता के हित के लिए कोई भी सत्कर्म न करे, किमाश्चर्यमतः परम् ?

एक कसाई और एक कृपक जब यह सुनता है कि कसाईखाना चलाना भी महारभ है और कृपि भी महारभ है, तो कसाई को अपनी आजीविका त्याग देने की प्रेरणा नहीं मिल सकती। वह किस प्रकार

कृष्ण की मोटि में अपने बापकी पाकर बुढ़ने कलह का मनुष्य करेवा और सन्तोष मानेवा ? यदि पद्म-सख की त्याग देने का विचार उसके दिमाग में बैठ बी रहा होवा तब भी वह न त्यागेवा । दूसरी ओर कृष्ण जब यह मानेवा कि बसकी आजीविका बी कलाई की आजीविका के समान है, और जब उसे इस बात पर विश्वास पी हो मानेवा तब कीम कह सकता है कि कृषि जैसे धन-साधन बन्ने को त्यागकर यह कलाईताने की आजीविका को न अपना के ?

सद्मा या कुवि



एक बृहस्प देवकी में निकले बाबे । मीन पूजा—कहिने क्या बात है ? कतने कहा—बापकी हवा से बने मायल में हूँ । महाराज में रहने बहुत बुझी वा । बेटी का काम करता वा दी महारिठा का काम होता वा । जब बनीन लेचकर बाबी का कलु करता हू । बस कोई अक्का-टंठा नहीं है । न बाने किछ पाप-नर्मे का बरन वा कि बेटी जैसे बहाना के कार में फंसा वा । जब बूर्व-मुल्य का करन हुआ पी कसके कुरकारण दिखा है । जब सद्दे का बन्ना बिल्कुल आनुक-विर्षोव-बंदा है । न कोई हिंसा है न कोई पाप ।”

बी महीन बार बड़ी बृहस्प एक धिन पीता हुआ-वा केरे पाठ बाया । पूजा—क्या हाल है ? कतने कहा—महाराज बर गया । किसी काब का न रहा । ठापी पू बी क्या बीझ ।

मने कहा “बरे, तुम्हारा पी बूर्व-मुल्य का बरन हुआ वा और विर्षोव काम की बृकबाड हुई बी । न कोई हिंसा और न कोई पाप । फिर बरीर जैसे हो बने ?

हां पी बी बहुत दुष्टिकीय बकता को निक बाता है, कसके बहान-हिंसा को बर्तयना बिकटी है । यह न करो यह न करो दब लपट

उसे मर्यादित चालू जीवन से उखाड़कर दूसरे सट्टे आदि के कुपय पर लगा दिया जाता है। फिर वह न तो इधर का रहता है, और न उधर का। वह बाह्य हिंसा के चक्र में उलझा हुआ यह नहीं समझ पाता कि सट्टे आदि के पीछे कितनी अनैतिकता है।

आर्य कर्म और अनार्य कर्म



जीन कर्म अहिंसा के बारे में बिल्ली गहूराई तक जाता है। उठनी गहूराई तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। जीन कर्म के जीवन के प्रत्येक प्रसंग को अहिंसा ही कठौती पर चरखा है और उठ पर अपना निर्णय भी दिया है।

दुर्भाग्य से हमारे कुछ तांत्रियों ने जीन-कर्म का वास्तविक और मौलिक स्वरूप भ्रष्टा किया है। उदाहरण जीवन के मुकाम प्रश्नों पर कुछ ने तो स्पष्ट ही 'वा' या 'न' कहकर एकमात्र जीन मुद्रा भी ही यह पक्ष भी है। पर इस तरह बच-बच कर बात करने से क्या एक काम चलेगा? यदि कोई गृहस्थ विद्यालय अपना अथवा अथवा अथवा अथवा छोड़ता है। तो यह अपने इस कार्य के सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट निर्णय तो चाहता ही कि वह जो करने कर रहा है, वह कर्म है वा पाप है? लोकपाल चापा में कहा जा सकता है कि विद्यालय वा अथवा अथवा छोड़ना-बुझाना अच्छा है। पर सोचना तो यह है कि वह कैसा छोड़ना वा अच्छा है वा वास्तविक दृष्टि से भी अच्छा है? हमें किसी स्पष्ट निर्णय पर जाना ही देना। केवल लोक कर्म राष्ट्र कर्म वा गृहस्थ कर्म कहने से सब काम नहीं चल सकेगा।

कोण जीन चारण करने के भी सब काम नहीं चल सकता क्योंकि सबसे प्रथम-पक्ष पर हीन प्रति से अक्षर हो रहा है। जो व्यक्ति उदाहरण अथवा राष्ट्र आत्मक बुद्धिजीव के समान भी प्रति देख देता है और अपने विचार-आत्मक कर्मों की चरम के अनुसार बना देता है,

समय उसी का समर्थन करता है। कोई कुछ पूछे और उत्तर-दाता मौन हो रहे तो इसका अर्थ यही समझा जायेगा कि कहीं कोई गड़बड़ है, दाल में काला है और आप में कहीं-न-कहीं दुर्बलता है। धर्म और दर्शन का अन्तर्मर्म खुलकर बाहर आना चाहता है। भला, कब तक कोई उसे दवाए-छिपाए रख सकता है ?

संसार का धर्म



इन सब उलझनों के कारण साधुओं के एक वर्गविशेष ने तो स्पष्ट रूप से “ना” कहना शुरू कर दिया है। उसका कथन है—इन सासारिक बातों से हमें क्या प्रयोजन ? हमसे तो आत्मा की ही बात पूछो।

मैं पूछता हूँ, वे केवल आत्मा की ही बात करने वाले व्यक्ति भोजन क्यों करते हैं ? औषधालयों में जा-जाकर दवाइयाँ क्यों खाते हैं ? चलते फिरते क्यों हैं ? ये सब तो आत्मा की बातें नहीं हैं ! केवल आत्मा सम्बन्धी बातें करने वालों को संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए। वे शहरों में क्यों रहते हैं ? जंगल की हवा क्यों नहीं खाते ?

सच तो यह है कि चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ, भूख की पूर्ति तो सभी को करनी पड़ती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि “करेमि भते” का पाठ बोलते ही, अर्थात् साधु-दीक्षा लेते ही कोई आजीवन अनशन कर दे, देहोत्सर्ग कर दे।

यदि गृहस्थ अपनी उदर-पूर्ति करेगा तो वह उद्योग-धन्धा तो निश्चित ही करेगा। वह या तो खेती-बाड़ी करेगा या कोई और मार्ग पकड़ेगा। भिक्षापात्र लेकर तो वह अपना जीवन-निर्वाह कर नहीं सकता। क्या जैन-धर्म कभी किसी गृहस्थ से यह कहता है कि भीख

यदि सारा ससार भिक्षा-पात्र लेकर निकल पड़े तो रोटिया आएंगी भी कहाँ से ? क्या रोटियाँ आकाश से वरसने लगेंगी ? कोई देव आकाश से रोटिया नहीं वरसाएगा । उनके लिए तो यथोचित् श्रम, प्रवृत्ति और पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा । प्रवृत्ति को कोई छोड़ ही नहीं सकता ।

हमारे कुछ साधकों ने भ्रान्त विचार-शृंखलाओं में फसकर और सत्यमाँ से विचलित होकर जोरों के साथ यह बात फैला दी कि पुत्र-पुत्रियों द्वारा माता-पिता आदि की सेवा करना एकान्त पाप है, यह ससारी काम है । इसमें धर्म का अंश भी नहीं है । इस प्रकार की बातें कह-कहकर उन्होंने गृहस्थ का भन गृहस्थ धर्म की भूमिका से दूर हटा दिया है । फलतः गृहस्थ अपने उत्तरदायित्व से दूर भाग खड़ा होता है ।

आज गृहस्थ-जीवन की पगडेंडियों पर चलने वालों ने अपना मार्ग अत्यन्त सक्कीर्ण बना लिया है । वे समझ बैठे हैं कि जो काम साधु न करे, उसमें पाप के सिवाय और कुछ नहीं है । बहुतेरे लोगों के दिमाग में ऐसी भ्रान्त धारणा बैठ गई है । इसीलिए उनका विश्वास हो गया है कि रोटिया खाई तो जाय, पर उनके लिए कमाई न की जाय, कपड़ा पहना तो जाय, पर बुना न जाय, पति-पत्नी बना तो जाय, परन्तु एक-दूसरे की सेवा न की जाय, माता का पद तो लिया जाय, पर माता का काम न किया जाय, पिता बनने में सौभाग्य समझते हैं, परन्तु पिता के दायित्व से बचना चाहते हैं ।

इन भ्रमपूर्ण धारणाओं ने आज गृहस्थ-जीवन को विकृत बना दिया है । आखिर यह उलटी गाड़ी कब तक चलेगी ? क्या जैन-धर्म ऐसी ही उलटी गाड़ी चलाने का आदेश देता है ? वह यह कहाँ कहता

है कि जो कुछ तुम बनना चाहते हो उसके वास्तव से बनने की कोशिश करो ।

जीव-वर्ग जीवन की आवश्यक प्रवृत्तियों को बन्द करने के लिए नहीं बना है । यह इस सम्बन्ध में एक सुन्दर तत्त्व है जो सर्वोपयोगी अभिव्यक्ति है ।

छोटी-बड़ी व्यापार-वाणिज्य कारि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उन सब को बन्द कर के बसोने तो एक दिन भी टिक नहीं सकतीं । यही नहीं बर्कर्मन्स होकर आकस्मिकों की पक्ष में बैठ जाने का पक्ष से ही तुम प्रवृत्तियों से बचकाय नहीं पा सकते । तुम्हारा मन जो कि प्रवृत्तियों का मूक स्रोत है, अपनी कनेक्ट-बुन में विरमण्डल बना ही रहेगा । उसकी दुकान-बारी कभी बन्द न होगी । उसे बन्द के बाहर बिठावोने और किन्तु कोने से छिपावोने ? ऐसी स्थिति में जीव वर्ग कहता है कि प्रवृत्तियाँ बन्द ही हों पर उनमें जो बिज का गुट है, उसे हटा दीजिये । उनके पीछे कुछ स्वार्थ एवं आसक्ति की जो विषाक्त आधनाएँ हैं, उन्हें बन्द कर बाहर निकाल दीजिये । यदि तुम दुकान पर बैठे हो तो बन्नाम से बस न बहोरी किसी बरीब का बून मल चुनो दुसरे का जीवन करने की ही प्रवृत्ति बच रहो । तुम्हारी प्रवृत्ति में से यदि नीति और मोक्षा बड़ी का बिज निकल बाएगा तो वह तुम्हारे जीवन की प्रवृत्ति में बाधक नहीं बनेगी बल्कि विकास की नई प्रेरणा प्रदान करेगी ।

छोटी-बड़ी करने वाले तो भी जीव-वर्ग यही कहता है कि यदि तुम छोटी करते हो तो उसमें बन्नामन्नी मल करो । छोटी की प्रवृत्ति में से बन्नाम और अविशेष का बाहर निकाल दो । अपने उत्पादन किसे बन्नाम तो ऊँचे बानी में बेचने के लिए बुद्धिमान बन्ने की बन्नी नाममा न करो बल्कि दुसरे के जीवन-निर्वाह में सहायक बनने की बन्नाम-

मयी पवित्र भावना रखो। वस, वही खेती आर्य-कर्म कहलाएगी। पवित्र एव करुणामयी भावना के अनुरूप कुछ अश मे पुण्य का उपार्जन भी किया जा सकेगा।

गृहस्थ जिस किसी भी कार्य मे हाथ डाले, यदि उसके पास विवेक का दिव्य-प्रकाश है तो उसके लिए वह आर्य-कर्म होगा। इसके विपरीत यदि असावधानी से, अविवेक से और साथ ही अपवित्र भावना से कोई कार्य किया जायेगा, फिर चाहे वह दुकानदारी हो या घर की सफाई सरने का ही साधारण काम क्यों न हो, तो वह अनाय-कर्म होगा। जैन-धर्म आर्य-कर्म और अनाय-कर्म की एक ही व्याख्या करता है, अर्थात्—विवेकपूर्वक, न्याय-नीतिपूर्वक किया गया कर्म “आर्य-कर्म है, और अन्याय से, अनीति से, छल-कपट से एव दुर्भावना से किया जाने वाला कर्म “अनाय-कर्म” है।

सामान्यतया कहा जा सकता है कि खेती आय-कर्म है, इस विषय मे प्रमाण क्या है? सब से पहले मैं यही कहूंगा कि प्रश्नकार का विवेक ही प्रमाण है, उसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। सबसे बड़ा प्रमाण मनुष्य का अपना अनुभव ही है। क्या तीर्थंकर किसी बात के निर्णय के लिए किसी ग्रन्थ, शास्त्र या महापुरुष के किसी वाक्य को खोजते फिरते हैं? नहीं, क्योंकि उनके पास ज्ञान का वह अनुपम संचलाइट है, जिसके समक्ष सभी प्रकाश फीके पड़ जाते हैं। उन्हें किसी भी ग्रन्थ या पोथे को टटोलने की जरूरत ही नहीं होती।

इसी प्रकार जिसके पास विवेक-बुद्धि है, उसे कहीं भी भटकने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी दृष्टि सम्यक् है और सत्य के प्रति जिसे सच्ची निष्ठा है, वह किसी चीज के औचित्य का निर्णय स्वयं कर सकता है। जो साधक विवेक का सहारा न लेकर धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करता है, वह बिना आत्म-प्रकाश के, अन्धकार मे टकरा कर गिर जाता है। धर्म का रहस्य विवेक के बिना समझ मे नहीं आ सकता। एक भारतीय ऋषि ने कहा है।

“अस्तकंठानुसन्धत्ते स धर्म बोध मैतर” ।

अर्थात्—जो कर्म से उत्पन्न वा अनुसंधान करता है वही धर्म का बोध करता है वृत्तवा नहीं ।

मनस्य गीतन के बुझने पर बहुमीर ने भी अन्तराध्ययन शुरू कर दिया है :

“एवमा समिक्खणं धम्मं तत्तं तत्तं विचिणिद्धं ।”

अर्थात्—“साधक को बहुत बुद्धि ही धर्म-उत्पन्न की समझ बनाना कर सकती है ।

साधार



वस्तुतः जीवन का निर्यात विचार के आधार पर ही होता है । विचार के बाध ही इन किसी प्रकार का आचरण करते हैं और विचार के लिए धर्म ग्रन्थ विवेक की आवश्यकता होती है । क्या बोधी कार्य करती है वा अनार्य कार्य ? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए धर्म ग्रन्थ अपने विवेक-बुद्ध अन्तःकरण से ही उत्तर देना चाहिए ।

जो किताब विचार पर बोधी से ऐसी तक पड़ीना कहा जाता है अन्तःकरण पर संसार को देता है अपना सारा समय परिचय और जीवन कृति के पीछे लगा देता है, ऐसे अन्तःकरण और अन्तःकरण को यदि आप अनार्य-कर्मों नहीं और वह अन्तःकरण को साकार ऐक-आचार्य के विचारों विचारों के साथ स्वयं कार्य-कर्मों होने का शायद करें वला वह निष्कारण बात को दिखी भी विवेकबोध का अन्तःकरण वह स्वीकार कर सकता है ? आप बुद्धि का क्या साकार कर आप अपने को न्या-हीन कर देंगे कि कृति क्या अनार्य-कर्म हो सकती है ?

भगवान् महावीर ने भी कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों को वैश्य बतलाया है। भगवान् [महावीर के पास आने वाले और व्रत ग्रहण करने वाले जिन प्रमुख श्रावकों का वर्णन उपासकदशाग सूत्र में आता है, उनमें से एक को छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं था, जो श्रावक अवस्था में खेती-बाड़ी का धंधा न करता हो। इससे आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी परंपरा हमें खेती के विषय में क्या निर्देश करती है ? वाणिज्य-व्यापार का नम्बर तो तीसरा है, वैश्य का पहला कर्म खेती और दूसरा कर्म पशु-पालन गिनाया गया है।

आर्य और अनार्य कर्मों का विस्तृत विवरण प्रज्ञापना सूत्र में भी आया है। वहाँ आर्य कर्मों के स्वरूप का निर्देशन करते हुए कुछ थोड़े से कर्म गिनाकर अंत में “जे यावन्ने तहप्पगारा” कहकर सारा निचोड़ बतला दिया है। इसका सारांश यही है कि इस प्रकार के और भी कर्म हैं, जो आर्य-कर्म कहलाते हैं।

कुम्भकार के घड़े को भी वहाँ आर्य-कर्म बतलाया गया है। इससे आप फैसला कर सकते हैं कि कृषि-कर्म को अनार्य-कर्म कहने का कोई कारण नहीं था। पर इस गए-गुजरे जमाने में नए टीकाकार पैदा हुए हैं, जो उन पुराने आचार्यों की मान्यताओं और भगवान् महावीर के समय से ही चली आने वाली पवित्र परंपराओं को तिलाजलि देने की अमर्श चेष्टा कर रहे हैं। जैन-जगत के युगद्रष्टा एवं क्रांतिकारी आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज को, जिन्होंने प्राचीन परंपरा के आधार पर अपना स्पष्ट चिंतन रखा, ऐसे ही कुछ टीकाकार, उत्सृष्ट-प्ररूपी तक कहने का दुस्साहस करते हैं। खेती आर्य-कर्म नहीं है, इससे बढ़कर सफेद झूठ और क्या हो सकता है ?

शायद विक्रम की दूसरी या तीसरी शताब्दी में आचार्य उमास्वाति हुए हैं, जिन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य लिखा है। उन्होंने आर्य कर्मों की व्याख्या करते हुए कहा है।

“अथैवमिति यत्नवान्नाम्यस्याप्यारम्भ
कृत्वाभिरुपशान्तिमोपवृत्तयः ।

यह चित्त वही ठे आया है ? उत्पुनः प्रकृतवा नृप के आचार
पर ही बड़ा चित्त दिया गया है ।

सोती आरि कभी के आरंभ करने होने के संभव में दृष्टे अन्ते और
क्या प्रमाण हो सकते हैं ? तात्पर्य वही है कि आरंभ की श्रुति ही
अन्तरेण की श्रुति है । इसका रहस्य वही है कि आरंभ के विवेक
होता है । यह जो भी काम करेगा उसमें विवेक की श्रुति
अन्तरेण रहता है ।

अबकी जीव तो विवेक है । बड़ा विवेक नहीं है, बड़ा सोती जी
अन्तरेण नहीं है । बड़ा एक कि विवेक के अन्तरेण न केवल तथा परम
आदि का अन्तरेण करना भी अन्तरेण नहीं होता ।

इस तरह हम जीव के अन्तरेण पर आरंभ-कर्म और अन्तरेण
कर्म तथा अन्तरेण और अन्तरेण का निर्णय कर लेना चाहिए । विवेक
को त्याग कर यदि किसी एक ही पक्ष के लोभ को पक्ष कर हम अन्तरेण
लोभ तो हमारी समझ में कुछ भी नहीं आया और हम अन्तरेण की
जीवित की श्रुति में होय चित्त कर देंगे ।

फोलादी दीवार को लाघ कर, अव्रत के असीम सागर को पार कर के और अपरिमित भोगों की लल्लामाओ से ऊँचा उठकर आया है उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है।

सूत्रकृताग सूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि के प्रगाढ़ अधकार में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और हिंसा एव असत्य आदि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ डालने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते भी जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी एकान्त सम्यक् आर्य हैं। उनका कदम ससार के विषय वासना पकित पतन मार्गों की ओर है या मोक्ष के उच्च मार्गों की ओर? सहज विवेक बुद्धि से विचार करनेवाला तो अवश्य ही कहेगा मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृताग कहता है —

“एस ठाणे आरिए जाव सब्बदुक्खपहीणमगे एगतसम्मं साहू”

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कहते हैं, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेंगे कहा गृहस्थ और कहा साधु? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं आप से कहता हूँ कि श्रावक का दृष्टिकोण भी मूलतः साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बंधनों के पाश को तोड़ने की ओर ही है।

फोलादी दीवार को लाघ कर, अन्नत के असीम मागर को पार कर के और अपरिमित भोगों की ल्लिप्ताओं से ऊँचा उठकर आया है उसने मिथ्यात्व की दुर्भेद्य ग्रन्थियों को तोड़ा है और वह अहिंसा एव सत्य के प्रशस्त मार्ग पर यथाशक्ति प्रगति कर रहा है।

सूत्रकृताग सूत्र में अधर्म और धर्म-जीवन के सम्बन्ध में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण चर्चा चली है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व और अविरति आदि के प्रगाढ़ अधिकार में पड़े हैं, वे आर्य-जीवन वाले नहीं हैं, किन्तु जो अहिंसा और सत्य को हितकारी समझते हैं और हिंसा एव असत्य जादि के बन्धनों को पूरी तरह तोड़ डालने की उच्च भावना रखते हैं और क्रमशः तोड़ते भी जाते हैं, वे गृहस्थ श्रावक भी एकान्त सम्यक् आर्य हैं। उनका कदम ससार के विषय वासना पक्ति पतन मार्ग की ओर है या मोक्ष के उर्ध्व मार्ग की ओर? सहज विवेक बुद्धि से विचार करनेवाला तो अवश्य ही कहेगा मोक्ष की ओर। ऐसे गृहस्थ के विषय में ही सूत्रकृताग कहता है —

“एस ठाणे आरिए जाव सब्बदुक्खपहीणमग्गे एगतसम्मि साहू”

जो यह गृहस्थ-धर्म की प्रशंसा में आर्य एव एकान्त सम्यक् आदि की बात कही है, वही सर्व विरति साधु के लिए भी कही गई है।

कदाचित् आप कहेंगे कहा गृहस्थ और कहा साधु? साधु की तरह गृहस्थ एकान्त आर्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में मैं आप से कहता हूँ कि श्रावक का दृष्टिकोण भी मूलतः साधु की भाँति परम सत्य की ओर है, बन्धनों के पाश को तोड़ने की ओर ही है।

यह कि नृसहृद्यता के बिना स्वामक में बहुत कमियाँ का वर्धन है। गृहस्थ को धर्म की शक्ति ही एकान्त मार्ग बताता है, उस ऐसी स्थिति में यदि तात्त्विक योजनादि स्वीकार्य करे तो पाप नहीं और यदि सामक्य नहीं विवेक पूर्वक योजनादि स्वीकार्य करे तो एकान्त पाप ही चित्तवृत्ति का यथा विधि प्रकार प्रत्यक्ष हो जाता है ? नहीं कर्म करता हुआ साधक पापी और दुपाप कैसे हो सके ? इस पर हमें विषयवस्तुपूर्वक विचार करना होगा।

पाप करना एक नीति है और पाप हो जाना दूसरी नीति है। पाप तो धर्म से भी होना सम्भव है। ये भी कभी किसी प्रवृत्ति में गूँझ कर बैठती हैं। पर वह नहीं कहा जा सकता कि तात्त्विक धर्म-गूँझकर पाप करता है। वास्तव में वह पाप करता नहीं है बल्कि हो जाता है। इसी प्रकार सामक्य भी कुछ अच्छे व तटस्थ वृत्ति केकर रहता है। परिस्थिति-बोध उसे मार्गदर्शक करना भी होता है वरन् वह प्रत्यक्ष धर्म से नहीं उदासीन भाव से रहता है। यदि कोई गृहस्थ आशक्ति धर्म से आशक्ति पाप कर्म करता है पाप कर्म के लिए उत्साहित होकर रहता है तो वह अन्याय है पर जो गृहस्थ कर्म तो करता है, पर उसमें मिथ्यावृत्ति जैसी आशक्ति नहीं रहता वह उसमें के आशक्ति के विषय में कर्म करता जाता है तो वह अन्याय नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो अपमान उसे एकान्त सम्बन्ध एवं कार्य क्यों रहते ?

केतु का मूल्य



अतः सत्य केवल पर सब मूल्य विषय पर भाव्य और विचार कोशित। पर और अपमान के साधक के जीवन को एकान्त सम्बन्ध धर्म जीवन कहा / और दूसरी तरफ़ बात बड़ी सही का बर्णन करने

वाले श्रावण का अनाप धनजते हैं। ये दोनों एक-दूसरे की परस्पर विराधी मानें कैसे मेल ला सकती हैं ?

श्रावण की भूमिता अल्पारम्भ की है, महारम्भ की नहीं। महारम्भ का मालूम है, गोर दिया और घोर पाप, जो श्रावण के जीवन में किसी प्रकार भी घटित नहीं हो सकता। अपना मालूम होगा, गृहस्थ जीवन में आनन्द ने, जो दिया, वह एक आदश की चीज थी। आनन्द जैसा उच्च एवं आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाला श्रावण महारम्भ का पाप नहीं कर सकता था। आनन्द, श्रावण अवस्था में भी खेती करता था, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आनन्द श्रावण था, अतएव अल्पारम्भ था। फिर भी वह खेती करता था, इसका फलितार्थ यही है कि खेती श्रावण के लिए वर्जनीय नहीं है, वह अल्पारम्भ में ही है।

कृषि के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें भगवान् आदिनाथ को स्मरण रखना चाहिए। मानव सभ्यता के आदिकाल में पहले कल्प-वृक्षों से युगलियों का निर्वाह हो जाता था। उस समय उनके सामने भ्रष्ट का कोई संकट नहीं था। खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। जब कि जन संख्या बहुत सीमित थी। पहला जोड़ा जब विदा होने लगता, उधर दूसरा जोड़ा उत्पन्न होता था। इसलिए उनकी संख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था। परन्तु भगवान् ऋषभदेव के समय में कल्प-वृक्ष, जो उत्पादन के एकमात्र साधन थे, घटने लगे और जन संख्या बढ़ने लगी। अतएव कल्प-वृक्षों से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित हो गई। जहाँ उत्पादन कम है और खानेवाले अधिक हो जाते हैं, वहाँ संघर्ष अनिवार्य है।

बुद्धों मरते और सकल के पड़े हुए बुद्धियों को मनमाना आचरण में जो बंटी करना और दूसरे बने करना सिखाया वह क्या था ? आचार्य की कक्षा सिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ाया था अहिंसा की राह बतलाई ? उन्होंने ऐसा कर के जीवन-राज दिया था पाप-कर्म किया ?

अहिंसा उत्पत्तिवाक्य मनोवृत्तिवाक्य व्यक्ति समाज के सम्बन्ध तथा राष्ट्र की वृद्धि के लिए उत्पादन में वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में तत्पर रहता है, युद्ध के ठगपटे पल्लु व्यक्तियों के कुछ-बर्षों को मिटाने के लिए उत्पादन की कक्षा बसाता है, जो वही भी एक प्रकार का अहिंसात्मक ही एक बुद्धिचिन्तन मार्ग है।

आपके घर कोई स्वयंसी आई जाया है। वह कुछ समय बड़े संकट में है। क्यों कि उस के घर के बाल के काँके पड़ रहे हैं और वह परीबी के पल्लु है। उक्त अवसर पर आपने उसे तात्कालिक सहायता की अर्थात्-बी-एक बार भोजन करा दिया। पर क्या इसका कष्ट मात्र से उसके जीवन-निर्वाह की समस्या हल हो गई ? इसके आपने दूसरे ही दिन फिर वही भुख की समस्यापूर्ण समस्या खड़ी होती। इसके विपरीत किसी आई ने उसे कुछी देर घर और दवा के डेरिज होकर किसी काम पर लगा दिया कोई व्यवहार सिखा दिया और अपने बेटे पर बला घर दिया तो वहूँकी की सवेखा दूसरा व्यक्ति स्वयं ही अधिक उपकारी दिना पायेगा।

हमी फिर देश के नतामन राज्य अपने भाषकों में सबकुछों को अपने देश के महत्त्वपूर्ण उद्योग सिखाने की प्रेरणा देते हैं। उद्योगों का विनाश करते हैं और देश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्या को हल करते हैं।

जीने की कला



वस्तुतः भगवान् ऋषभदेव ने भी युगलियों को जीने की ही कला सिखाई थी। उनके समय में मनुष्यों की संख्या बढ़ रही थी। इधर मां-बाप भी जीवित रहते थे और उधर सन्तान की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। केवल एक जोड़ा सन्तान उत्पन्न होने का प्राकृतिक नियम टूट गया था, फलतः सन्तानें बढ़ चली थीं। स्वयं ऋषभदेव भगवान् के भी पुत्र और बहुत सी पुत्रियां थीं। परन्तु दूसरी ओर कल्पवृक्षों में, अर्थात् उत्पादन के साधन में कमी होती जा रही थी। यदि उस समय का इतिहास पढ़ेंगे, तो आप को मालूम होगा कि जिन युगलियों को पहले वैर-विरोध ने कभी छुआ तक न था, वे भी स्त्रियों के लिए आपस में गाली-गलौज करने लगे, जिससे परस्पर द्वन्द्व होने लगे थे। लाखों वर्षों तक कल्प-वृक्षों का बटवारा नहीं हुआ था, किन्तु अब वह भी होने लगा और वृक्षों पर अपना-अपना पहरा बिछाया जाने लगा। एक जत्था दूसरे जत्थे के कल्प-वृक्ष से फल लेने आता तो सघर्ष हो जाता। एक वर्ग कहता-यह कल्प वृक्ष मेरा है मेरे सिवा इसे दूसरा कौन छू सकता है? दूसरा वर्ग कहता, यह मेरा है, अन्य कोई इसके फल नहीं ले सकता। उस समय सब के मुख पर यही स्वर गूँज रहा था कि मैं पहले खाऊंगा। यदि तू इसे ले लेगा, तो मैं क्या खाऊंगा?

इस प्रकार सग्रह-वृत्ति बढ़ने लगी थी। उस समय यदि भगवान् ऋषभदेव सरीखे मानवता के कुशल कलाकार प्रकट न होते, तो हमारे वे आदि काल के पूर्वज आपस में लड़-झगड़ कर ही समाप्त हो जाते। भगवान् ने उन्हें मानव-जीवन की सच्ची राह बताई और अपने सनुपदेश से इनके सघर्ष को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

बूझो मरते और घबराते हैं पड़े हुए बुद्धियों को मरणात्मक आदिवाप में जो खेती करना और बुझने बने करना सिखाया वह क्या था ? उत्पादन की कमा दिखाकर उन्होंने हिंसा को बढ़ावा या बहिष्कार की राह बतलाई ? उन्होंने ऐसा कर के जीवन-बल दिया या पाप-कर्म किया ?

यदि रचनात्मक मनोवृत्तिवाला व्यक्ति समाज के अस्वास्थ्य तथा राष्ट्र की समृद्धि के लिए उत्पादन से वृद्धि करता है, समाज और राष्ट्र की आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति से तत्पश्चात् बहुरूप होता है, मूल से उत्पन्न वस्तु व्यक्तियों के बुझ-बर्ह को मिटाने के लिए उत्पादन की कमा बताता है, जो वही ही एक प्रकार का बहिष्कार था ही एक सुनिश्चित मार्ग है।

आपके घर कोई स्वामी नहीं आया है। वह सब समय बड़े संकट में है। क्यों कि उस के घर में बल के बावजूद वह खड़े हैं और वह बरीबी से उत्पन्न है। उस अवसर पर आपने उसे आकाशिक बहावों की अवां-बो-एक बार भोजन करा दिया। घर क्या हुआ करने बाध है इसके जीवन-निर्वाह की समस्या हल हो गई ? इसके सामने बुझने ही बिना फिर वही बुझ की अन्तर्मुख समस्या खड़ी होती। इसके विपरीत किसी बाई ने बने बुझी रेश कर और दवा से प्रेरित होकर किसी काम पर काम दिया कोई व्यवहार दिखा दिया और अपने पैरों पर खड़ा कर दिया तो आपके की अपेक्षा कुछ ही व्यक्ति स्पष्ट ही अधिक उपकारी भिन्न आयेगा।

इसी लिए रेश के उत्पादन मात्र करने वालों व वस्तुवर्षों की अपने रेश के महत्वपूर्ण उद्योग दिखाने की प्रेरणा देते हैं। उन्होंने यह दिखाव करते हैं और रेश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्या को हल करते हैं।

सही दिशा

पर हमारा दिल इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। गृहस्था-यम में होने के कारण यदि उन्होंने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकते थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं कह दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद ह। इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार कर के जीवा-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी? पशु पक्षियों को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ माननेवाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते ह ?

पशुओं को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु पक्षियों को मार कर खाने की, अथवा दोनों उपायों को यथा आवश्यकता प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारभ नहीं है, अल्पारभ है। भगवान् ने अल्पारभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा, यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारभ की ओर अग्रसर होती जायेगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे, एक दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारभ की अनिवार्य एवं व्यापक सभावना को खेती वाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य कर्म की नही दिशा दिखाई। मास खाना, शिकार खेलना आदि अनार्य कर्म भगवान् न नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसारूप महारभ के प्रतीक थे, जब कि कृषि उद्योग अहिंसा रूप अल्पारभ का प्रतीक है।

अनुचित स्थिति के कारण वह बाधक की भाँति रहती है कि क्या व्यवस्था व्यवस्था उन्हें जीवन नहीं दे सकती है ? अब कि देव और देवता अविपत्ति स्वयं इस व्यवस्था में था। वे जानते थे कि उन्हें जीवन विज्ञान में क्या देव कम रहती थी ? परन्तु ऐसा करने से सुखों की आवश्यकताएं तब तक पूरी होती रहतीं जब तक व्यवस्था रहते। इसलिए व्यवस्था ने सोचा मेरे जाने के बाद नहीं इस व्यवस्था को कोई व्यवस्था और धार-काय देनेगी। फिर नहीं समस्या बढ़ी होगी। अतएव व्यवस्था ने उन्हें इससे परिचित करना सिखाया। उन्होंने कहा तुम्हारे हाथ स्वयं तुम्हारी स्थिति का सुन्दर निर्माण कर सकते हैं और वह निर्माण तुम्हारे सुख के जीवन का आधार होगा।

इस अवस्था पर मुझे अचर्य वेद-जालीय एक वैदिक श्रुति की बात धार पारती है किन्तु वह वास्तव में हमारे जीवन में हस्तगत अवस्था में अवस्था है।

अतएव वह वेद हाथ ही व्यवस्था है अतएव वेद हाथ व्यवस्था से भी बढ़ कर है। वास्तव में हाथ ही व्यवस्था ऐश्वर्य का आधार है, यदि उसकी अवस्था को नहीं धारित व्यवस्था किया जाने।

इस प्रकार व्यवस्था ने सुखियों के हाथों से ही व्यवस्था अपनी समस्या सुलझाई। मैं तो बड़ा एक रहता हूँ व्यवस्था ने केवल एक सुखियों की समस्या को ही नहीं सुलझाया अतएव आज के मानव-जीवन की वैदिक समस्या को भी हल किया है।

आज हमारे कई बाधा कहते हैं की बहुत ही बड़ा है। क्यों कि व्यवस्था स्वयं व्यवस्था में है इस लिए उन्हें वे-व्यवस्था को महारथ को दिया है।

सही दिशा



पर हमारा दिल इससे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। गृहस्थाश्रम में होने के कारण यदि उन्होंने महारभ रूप खेती सिखाई तो वे पशुओं को मार कर खाने की शिक्षा भी दे सकने थे। फिर उन्होंने क्यों नहीं कह दिया कि ये लाखों-करोड़ों पशु-पक्षी मौजूद हैं। इन्हें मारो और खा जाओ। उन्होंने शिकार कर के जीवा-निर्वाह कर लेने की शिक्षा क्यों नहीं दी? पशु पक्षियों को मारने और शिकार खेलने की तरह खेती को भी महारभ माननेवाले इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं?

पशुओं को मार कर खाना महारभ होने से नरक का कारण है और यदि खेती भी महारभ होने के साथ-साथ नरक-गति का कारण है तो भगवान् पशु पक्षियों को मार कर खाने की, अथवा दोनों उपायों को यथा आवश्यकता प्रयोग में लाने की शिक्षा दे सकते थे। परन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे कोई रहस्य होना चाहिए। वह यही है कि अहिंसा की दृष्टि से वास्तव में खेती महारभ नहीं है, अल्पारभ है। भगवान् ने अल्पारभ के द्वारा जनता की जटिल समस्या हल की। उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से देखा, यदि ऐसा प्रयोग न किया गया, जनता को अल्पारभ का पेशा न सिखाया गया तो वह महारभ की ओर अग्रसर होती जायेगी। लोग आपस में लड़-झगड़ कर मर मिटेंगे, एक दूसरे को मार कर खाने लगेंगे। इस प्रकार भगवान् ने महारभ की अनिवार्य एवं व्यापक सभावना को खेती वाड़ी सिखा कर समाप्त कर दिया और जनता को आर्य कर्म की मही दिशा दिखाई। मांस खाना, शिकार खेलना आदि अनायं कर्म भगवान् ने नहीं सिखाए, क्योंकि वे हिंसारूप महारभ के प्रतीक थे, जब कि कृषि-उद्योग अहिंसा रूप अल्पारभ का प्रतीक है।

इसने विद्वत् विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जबान् जबाने से बड़ी-बड़ी बातें के जो भी उद्योग बन्ने लगे, वे सभी कार्य-कार्य के अनर्थ-कार्य नहीं। उन्होंने बिना प्रयास के बजाई पर देखा नहीं। बड़ी बिनाई पर बिचार नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ भी बिचाया वह सब प्रयास के द्वि के लिए ही था।

कारण मैं बड़ी कबल फोफो बगलता हूँ कि कोई भी बहिष्कारवादी महापुरुष किसी भी परिस्थिति में महारण के कार्य को बिचा नहीं दे सका। एक महापुरुष बगलने वाला व्यक्ति यदि ऐसे कार्य को बिचा देता है तो अपने अनुयायियों के साथ वह भी तरह का एही बनेवाला कि दूसरों-बाह्य व्यक्ति उनके अनुकरण से तबनुकन लाभ करते हैं।



अहिंसा और कृषि

भगवान् ऋषभदेव ने मानव समाज को घरती पर सर्व प्रथम जीने की कला सिखाई, फलस्वरूप उसे कृषि-उद्योग आदि के द्वारा अहिंसक जीवन जीने का मार्ग बताया। कुछ अज्ञानी इस भ्रम में हैं कि ऋषभदेव भगवान् ने कृषि का जो मार्ग बताया, वह महारभ और घोर पाप है। पर वे ऐसा कहकर बहुत मूल करते हैं। विवेक समय और अनासक्तिपूर्वक सेवा-भाव से की गयी कृषि कभी भी महारभ नहीं हो सकती, यह हमने पिछले अध्यायो में अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यदि कृषि महारभ का काम होता तो ऋषभदेव कभी भी उसके लिए उपदेश नहीं करते। दुर्भाग्य से आज ऐसे लोग हैं जो यह कहने को उतावले हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने गृहस्थ-दशा में जो कुछ भी काम किया, वह सब ससार का काम था। उन कामों का धर्म से या आध्यात्मिक जीवन से कोई संबंध नहीं। यह कहना सचमुच में बड़ा अभद्र है कि ऋषभदेव द्वारा किये गये वे सभी काम जो गृहस्थवास के समय हुए, पापमय थे। तत्त्व चिंतकों और जैन शास्त्रों के विशेषज्ञों का यह मत है कि, उन्होंने ऐसा कोई भी काम अपने जीवन में नहीं किया, जिससे धर्म मार्ग को कोई ठेस पहुंचती या आध्यात्मिकता में कमी आती। यह पापाचारका कथन केवल उन्हीं लोगों का है, जो जैन शास्त्रों की गहराई में न जाकर ऊपर-ऊपर से विषय का विश्लेषण करते हैं। वे अल्पज्ञ ही ऐसा कहते हैं कि यह तो भगवान् का जीतकल्प था। उन्हें करना ही पड़ता।

में पूछता हूँ कि निम्न तर्क कृषि का उपदेश देना क्या उही तर्क वर्धोद्योग की सेवा बकाय देना क्या ? ऐसा कहना सर्वथा बहाना या ही परिचायक है। हमारा यह स्पष्ट अभिप्राय है कि तीर्थंकर अनाथार वर्ष भर शान बैठे हैं और इस कम में वे जनता की बड़ी सेवा करते हैं। इस शान से उन्हें महान् धर्म और साम्प्रदायिक जीवन की प्राप्ति होती है। किन्तु कुछ लोग यह कहने का साहस करते हैं कि जनमान का शान देना कृषि का उपदेश देना राजा बनकर प्रजा का शासन करना इत्यादि समस्त कार्य सांसारिक है, अतः असाधक है। }

प्रगति का शास्त्र



इस प्रकार तीर्थंकरों के दर्शन की शान की मातृ-पिता की सेवा की भीम रक्षा की, कृषि अक्षय्य मार्ग की व्यवस्था की वे शान मानते हैं और ऐसा कहते हैं कि संसार के सर्वथा अनाथार वाली निमुक्त होकर शान ही केवल धर्म है। परन्तु इस विषय पर बनीरक्षा के पीछे की आवश्यकता है। बहिष्कार जीवन की प्रगति का शास्त्र है। और यह प्रगति विरुद्ध मानव की ओर बढ़ती रहती है। यदि हम मानव जन्म की प्राप्ति कर देंगे तो हमें बहिष्कार के मार्ग की प्रकृति ही नहीं रहेगी। तब तो शिष्टि निम्न पुष्पी रहेगी। परन्तु बहिष्कार मार्ग की प्राप्ति करने का शासन है। जीवन को जीने का शासन है। इसविषय बहिष्कार की व्यवस्थाएँ शास्त्रमन्त्र होती हैं। जीवन और मनुष्यों की हिंसा एक ओर हो तथा दूसरी ओर अनाथार या कृषि का काम हो तो हम दोनों ने जीवन काय बहिष्कार के अधिक विषय है यह निर्णय करना होना और कभी निर्णय के आधार पर हम यह जीवन कहेंगे कि बहिष्कार का काम जीवन और हिंसा का काम जीवन है।

इस सदमं मे हम यह भी नहीं मान सकते कि तीर्थंकर राजा बनते हैं तो उसमे भी उन्हें पाप होता है। हमे सोचना पड़ेगा कि वे राजा क्यों बनते हैं। क्या वे दुनिया का आनन्द लूटने के लिए, भोग-वासना मे लिप्त होने के लिए और राजसी सुखो का आस्वादन करने के लिए राजा बनते हैं ? प्रजा मे फैली हुई घोर अव्यवस्था को दूर करने के लिए, नीति मर्यादा कायम करने के लिए और समाज मे व्याप्त कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए यदि वे राजा बनते हैं, तो पाप नहीं माना जा सकता। वे प्रजा के शोपक नहीं, पोषक ये, शासक नहीं, सेवक ये। उन्होंने सिंहासन को स्वीकार कर के प्रजा मे होनेवाले अत्याचार, अन्याय और शोषण का प्रतिकार किया। इस महान् उपकारमय काम की ओर हम दृष्टि ही न डालें और आख मूढ़कर केवल इतना भर कह दें कि राजा बनना पाप है, इसलिए उन्होंने राजा बनकर अधर्म ही किया तो यह उचित नहीं होगा। यही तो दान, दया और कृपि के लिए भी लागू होता है। जब दान, दया और कृपि का काम ऋषभदेव, महावीर अथवा अन्य तीर्थंकरों ने किया उस वक्त वे अज्ञानी नहीं थे, साधारण मानव भी नहीं थे। उनके पास अद्भुत ज्ञान थे और वे भावी तीर्थंकर हैं, यह भी सर्व-विदित था। तब भला वे ज्ञानी और भावी तीर्थंकर एकान्त पाप-कार्य मे कैसे प्रवृत्त होंगे, यह सोचना चाहिए।

उपदेशक



अगर दान करना या कृपि करना पाप है, तो उसका उपदेश देनेवाला भी अवश्य ही पापी होगा। अगर कृपि महारम है, तो भगवान् ऋषभदेव भी कृपि का उपदेश देनेवाले होने के कारण महारमी थे और शास्त्र का कथन है कि महारमी की गति नारकीय होती है। हमे मानना चाहिए कि कृपि महारम नहीं है।

साधु का क्लेश



कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि इन सांसारिक कार्यों की ओर आकाशी साधुका को ध्यान नहीं देना चाहिए और मोन रखना चाहिए । परन्तु इसका यह कथन ठीक नहीं । साधु समाज का मार्ग दर्शक है तथा समाज को बताता है कि उसे किस रास्ते पर जाना चाहिए । अगर साधु ही मोन करने के बड़े कार्यों की ओर समाज का उचित मार्गदर्शन नहीं करेंगे तो वे अपने कर्तव्य से जुड़ ही होंगे । उन्हें मोन करने की जरूरत नहीं है । वे साफ-साफ बतावें कि समाज में किस प्रकार अनुष्ण बोले ? किस प्रकार वह हिंसा से दूरे दूरे अहिंसा की ओर बढ़े ? किस प्रकार वह रोजगारों के व्यवहार में अहिंसा का व्यवहार करे ? और किस प्रकार सामाजिक ऐश्वर्य में निर्वास हो ? अगर साधु के सामने समाज आता है कि एक निष्कामाधिक हठारो अनुष्ठानों का बोधन कर के करोड़ों लोगों का बंधन करता है या एक कच्चा हठारो बन्दे काटकर मन रखकर करता है, उनसे और दिन भर कभी नैष्ठिक कर के बंधन पैदा करनेवाले किसानों में मोन व्यक्ति अहिंसा के अधिक निष्क है ? तो साधु को यहाँ मोन रखने की जरूरत नहीं है बल्कि उसे यहाँ साफ-साफ बताना चाहिए कि बोधन करना अनुष्ठानों के एक को जीवन में बिरोध पक्षों के जानों का व्यवहार करना अनिष्ककारक है और नाह है तथा निरसीन है और किसान का काम अहिंसा के निष्क है । नाह में निरसीन-निरसीन कभी आयेगी कठना-उठना ही नये का बंधन बढ़ता बंधन । कल्पना कीजिये किसी आदमी की १ ४ किसी स्वर बढ़ा हुआ या । बोधन है या स्वभाव-यह दुखरे दिन १ किसी रह गया । किसी ने कबसे कुछ क्या हुआ है ? यह वह कहता है कि सब आराध है । कुछ ही प्रश्न कहा है कि नाह १ किसी स्वर है तो आराध कब से

आया ? परन्तु यह नहीं सोचते कि जितनी कमी हुई है उतना तो आराम हुआ है ।

एक गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक जीवन के साथ कृपि का सामंजस्य हो सकता है कि नहीं, इस प्रश्न का उत्तर हमें देना ही होगा । क्योंकि हमें सामाजिक जीवन की रीढ़, कृपि के बारे में घपला करने का अधिकार नहीं है । कोई-न-कोई एक निर्णय कर के यह बताना ही होगा कि कृपि अनिवार्य हिंसा और अल्पारम्भ है अथवा निश्चय हिंसा और घोर आरम्भ है ।

जीवन में हिंसा तो अनिवार्य है उससे किसी तरह बचा नहीं जा सकता । यदि इस सत्य को कोई अस्वीकार करता है, तो उसका कोई तर्क माना नहीं जा सकता । जीवन सघर्ष में खेती, उद्योग आदि जो व्यापार चल रहे हैं, उनमें हिंसा है । जीवन-व्यवहार हिंसा से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता । इसलिए अभी मानव के सामने हिंसा और अहिंसा में से एक माग नहीं चुनना है, बल्कि हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ने का मार्ग चुनना है । जहाँ तक अनिवार्य हिंसा का प्रश्न है, वहाँ तक हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि साधु भी पूर्णतः अहिंसा का व्रत नहीं निभा सकता । क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या आदि जो आन्तरिक हिंसा रूप दोष हैं, वे जल्दी ही साधु का भी पिण्ड नहीं छोड़ते । इसके अलावा जो मोटी हिंसा गृहस्थ करता है, उसके साथ भी किसी-न-किसी तरह का का लगाव साधु का होना संभव है, जब इस धरती का जीवन इतना हिंसा-संकुल है, तब पूर्ण अहिंसा की बात करना न तो उचित है और न व्यावहारिक है ।

तम्बाकू की खेती



अब प्रश्न उठता है कि तम्बाकू की खेती करना असंसार्य है या महारण्य है ?

यह प्रश्न साधारण खेती के संबंध में नहीं बल्कि तम्बाकू जैसी नशीली खेती के संबंध में है। तम्बाकू मानव-जीवन के लिए अनिवार्य वस्तु नहीं है। बल्कि यह मानव-स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है और सम्प्रदाय में शायक है। मारपी कोयला खन की खेती को छोड़कर तम्बाकू की खेती करना है और उसके मन-बोझ कर के विद्यमान जीवन जीना चाहता है इसलिए यह किसी भी दृष्टि के अतिरिक्त फायदा नहीं है। जिस चीज के उत्पादन के लिए का स्वास्थ्य बिगड़ता हो और जिस चीज के उत्पादन के मुझे मानव के लिए आवश्यक काम के उत्पादन में बाधा पड़ती हो और जिस चीज का उत्पादन मानव की जीवनशक्ति को कमजोर करता हो वह काम अनुचित और निरसीम होता है।

यह कुछ उदाहरणों में देखा है और सुना है कि वहाँ के लोग जलकुश-का तम्बाकू खेती कीजें पैसा कमाते हैं और सब बाहर के उदाहरणों के समझते हैं। यह अनुचित काम कमजोर करने की प्रवृत्ति का प्रतीक है।

राज का ना हिंसा का संबंध लोगों की विमर्श के साथ नहीं बल्कि मानव के साथ है। यहाँ तम्बाकू का प्रश्न खड़ा है, यहाँ पर भी हमें मानव की शक्ति कुशल रूप से जीवनी चाहिए। तम्बाकू की खेती में मानव की भावना दूषित रहती है, स्वस्थ हो अनुचित काम करने की शक्ति रहती है इसलिए यह मानवों का शोध का बाधा है। हम अब या अग्रे जैसी उपयुक्त दृष्टि को ही सम्पूर्णता दृष्टि कर रहे हैं क्योंकि उनका मानव का निर्दोष शोध महानगरी है। दृष्टि करने मानव विज्ञान की भावनाएं बाहरबकला दृष्टि की होती हैं यही

वे निर्दयतापूर्ण नहीं होती । जीवन का सहज कर्म और कर्तव्य समझकर ही एक किसान खेती का काम करता है ।

इन सब विभिन्न दृष्टियों से सोचने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि मानव का जीवन अहिंसा की ओर बढ़े, इसके लिए कृषि पहला चरण है । परन्तु हमें कृषि तक आकर सीमित नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि आगे भी इसकी खोज जारी रखनी चाहिए कि क्या कोई ऐसा उपाय भी प्राप्त हो सकता है, जिससे न तो मनुष्य का शोषण करना पड़े, न पशुओं का वध करना पड़े और न अन्य देशों या जातियों पर हावी होना पड़े । साथ ही कृषि से होनेवाली हिंसा से भी बचा जा सके और फिर भी जीवित रहा जा सके । इस दिशा में जब वैज्ञानिक पद्धति में खोज होगी, तभी सम्भवतः कोई उचित उपाय निकल सकेगा ।

माताहार का अर्थ कई कारणों के साथ-साथ एक मुख्य प्रयोजन यह भी है कि ठोके मुक्तों में बहाली मुक्तों में और जैसी प्रेसी में जो बहुसंख्यक मानव समाज रहता है उसे अन्न उपलब्ध नहीं हो सकता बहा लेनी भी संभव नहीं कभी और वहाँ के वातावरण में कोई जैसी नहीं देने वाली वस्तु के बिना अन्न नहीं एक सकता। एक समस्या का हल माताहार के हाथ कहे हो सकता है इसके अनुसंधान का प्रभाव नहीं हुआ। यह कभी हमें इगारी ही कभी बावनी होती। वरन् यह वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ्य के लिए मात्र के अधिक माताहार ही उपयोगी है, और विरोध है। जिस पशुओं का मांस खाया जाता है वे पशु भी कभी-कभी माताहारी होते हैं। माताहारी पशु का मांस अगर मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए प्रतिपत्नी और लाभदायक हो तो माताहारी पशुओं का मांस ही और भी लाभदायक होना चाहिए किन्तु यह माना जाता है कि माताहारी पशुओं का मांस मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं होता उन्हीं एक प्रकार का गुर्रर बग होता है फिर यह बात भी ध्यान देने लायक है कि एक अन्न और परकारिता कभी से बराबर नहीं होती वरन् मांस मुख्य कारण हो जाता है। उन्हीं कीड़े यह मांस है और बाकी मांस बरबू देने लगता है। ऐसी हालत में भी माताहार के बजाय माताहार अधिक प्रचलित है तो कबला क्या कारण है? हमें इन कारणों की खोज करनी चाहिए, जिस कारणों से आज माताहार को प्रलय मिला हुआ है।

अध्यक्त समझन



एक जगह पाच रुपये के कप के लिए बीस रुपये की मात्र की मागता है तो यह कैसा मांस के लिए नहीं मागता उन्हीं एक अन्न के उन्हीं इन दोनों का समर्थन भी मिलता है जो माताहारी नहीं है,

शाकाहार का प्रश्न

अहिंसा के विश्लेषण की दिशा में जैन चिंतकों ने जिस सूक्ष्मता का दर्शन किया, सम्भवतः इतिहास में बहुत कम चिंतक ऐसे हुए हैं, जो उस सूक्ष्मता तक पहुँचे हों, परन्तु मध्यमयुग और वर्तमान युग के जैन विद्वान परिस्थिति के प्रवाह में कुछ शिथिल हो गए और उनसे प्रत्यक्ष रूप में अहिंसा की साधना और अहिंसा के प्रयोग का क्षेत्र विकसित नहीं किया जा सका।

यही कारण है कि जैन धर्म के आदि-प्रवर्तक ऋषभदेव ने कृषि के माध्यम से मांसाहार के स्थान पर शाकाहार का जो सिद्धांत प्रस्तुत किया वह सिद्धांत आज विश्वव्यापी नहीं बन सका है। यदि हम लोग अहिंसा के प्रत्यक्ष प्रयोगों में लगे रहते और मांसाहारी मानव समाज को शाकाहारी बनाने में सफल हो सकते तो इस सृष्टि का रूप आज दूसरा ही होता।

मांसाहार करने वालों पर मांसाहार की जितनी जिम्मेदारी है, उससे कहीं अधिक जिम्मेदारी उन लोगों पर है, जो स्वयं शाकाहारी होते हुए भी मांसाहारियों को शाकाहारी होने के लिए प्रभावित नहीं कर सके। शाकाहारी जीवन में श्रद्धा रखने वालों का यह कर्तव्य है कि वे शाकाहार की उपयोगिता पर नई खोज करते तथा उसके अनुसार यह सिद्ध कर देते कि मांसाहार न केवल निरर्थक और अनावश्यक है बल्कि नुकसानदेह भी है और मांसाहार के बिना भी इस संसार की खान-समस्या का हल हो सकता है। इस तरह के क्रियात्मक ढंग से यदि हमने मांसाहार के विरुद्ध वातावरण तैयार किया होता तो निश्चय ही संसार के बहुसंख्यक लोग शाकाहार की वास्तविकता का, तत्त्व समझ लेते।

पर धन के का व्यवहार करते हैं। विदेशी भाषों के धन के बने हुए
पूछे हैं, बड़ी के पड़े बाँटि का निर्माण होता है और इन वस्तुओं
का प्रयोग बाँटिवाही का बिना माँटिवाही तरी करते हैं। इस प्रकार
बाँटिवाही को प्रयत्न देने वाले भी उपरोक्त इन ही हत्या के बाँटिवाही
बन जाते हैं, इसलिए नयेप्रयत्न निरामिष प्रया को बाँटि होने की
भावस्थिति है।

बाँटिवाही का प्रयत्न केवल बाँटिवाही के सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि
यह धन के विकास के भी सम्बन्ध रहता है। यह प्रयत्न बहुत व्यापक
है और इसके माध्य के मोक्षिक धर्म का सम्बन्ध है। बाँटिवाही का यही
विकास यही दिशा में हो सकता है कि यह अपने बाँटिवाही के माध्यों
के धन का सम्बन्ध उपरोक्त बाँटिवाही काय और उभरा धन हासिल
करता था। यही धर्म का सम्बन्ध है, और यही विकास का रास्ता है।
विशेषा हमारे धर्म का सम्बन्ध बहुत ही अधिक अनुपम तक ही सीमित न
होकर यही धर्मियों तक हमारी महानुपमि विकसित होती मात्र रहता
ही मात्र का मोक्षिक धर्म सिद्ध हो सकता है। धर्म का विस्तार कथन
के विस्तार के ही संभव है। इसलिए बाँटिवाही का प्रयत्न बाँटिवाही
के विस्तार सम्बन्ध रहता है कथन यही अधिक मात्र विकास के
सम्बन्ध रहता है।

बाँटिवाही के धर्म और अनुपम होने का धनव्यवस्था है, इस
प्रयत्न के उत्तर में विद्वानों के कहा है कि अनुपम की माँटिवाही में बहुत
धन का उत्तम विस्तार अधिक विकसित होता कथन ही यह अनुपम
धर्म धर्म बाँटिवाही। महापुरुष के प्रसिद्ध शब्द भी एकदम के
धारे में यह प्रसिद्ध है कि एक बार के धर्मों न करने के और धर्मों
के बाहर किसी विज्ञान के धर्मों के न करने के कारण उन्हे धर्मों के
बाँटि। यह कथन बाँटिवाही धर्मों के धर्मों बहुत ही यह एकदम
की धर्मों के धर्मों के विज्ञान धर्मों का। यह कथनी महापुरुष

की उत्कृष्टता का एक नमूना है। जब मानव हृदय में महान्भूति का चम्कोत्कप होता है तब वह प्राणिमात्र ने किस तरह सम्पन्नित हो जाता है, यह हम उदाहरण से स्पष्ट है।

भारतवर्ष शाकाहार का सबसे बड़ा सदेश-वाहक रहा है। आज भी शाकाहार के सम्बन्ध में सबसे अधिक सोचने वाले और शाकाहारी जीवन बिताने वाले भारत में सबसे अधिक हैं। यहाँ हजारों वर्षों से जो प्रयोग चल रहा है, वह हम बात का प्रमाण है कि हमने समझ-बूझ पूर्वक इसे स्वीकार किया है और शाकाहार हमारा एक महत्त्व का कदम है। पर इस देश में भी मांसाहार को बढ़ाने की कोशिश जिस देशों के साथ हो रही है, वह आश्चर्य जनक है। मांसाहार के प्रचार के लिए ताकत लगाने की क्या आवश्यकता है, वह तो दुनिया-भर में चल ही रहा है। उसको प्रोत्साहन देने के लिए जगह-जगह नए, वैज्ञानिक ढंग के, कत्ल खाने बनाना या मछली पालन, मुर्गी पालन आदि की तबज्जोह देना, विदेशी सरकारों द्वारा चलाई जाने वाली विकास योजनाओं की भोड़ी नकल मात्र है। भारत ने तो सारे विश्व को शाकाहार का सन्देश दिया, इसलिए उसी सन्देश को फिर से जागृत करने की आवश्यकता है। अगर वैसा करने की शक्ति इस देश में नहीं है तो कम-से कम अपने इतिहास के मुह पर कालिख पोतने का प्रयत्न तो न करें।

आज का प्रगतिशील मानव, जो मानवमात्र की समानता का सिद्धांत मानता है और सामाजिक-न्याय के लिये प्रयत्नशील है, अपने से कमजोर प्राणियों के प्रति इतना क्रूर हो सकता है तो वह कैसा प्रगतिशील है, यह समझ में नहीं आता। कितने मृतक जीवों को भोजन के रूप में काम में लाया जाता है, कितनों को मारकर दवाई और फैशन के सामान के रूप में काम में लाया जाता है, हार्दिक वेदना के साथ हम

यह देख रहे हैं कि तंसार के अधिकांश घर घरे हुए पानवरों के स्वाम बन गए हैं और अधिकांश पैर फलतः फिरे हुए पानवरों के कब्रगाह बन गए हैं। ऐसी स्थिति में 'बनुर्चंद कुटुम्बकम्' का गरिब भिक्षात स्वयं खत्म हो जाता है। 'अर्धभूतिहिते गता' की हथौड़ी बाकी की बिछा दिया गया है और बाक भारतीय सरकार मुर्ती और बच्चों के विकास के जो कोनों को मांछाहार की ओर ले जा रही है वह अधिमां महर्षियों की हथौड़ी शाक की एक शाकवा पर पानी डेर रही है। जिस शाकवा न मानवीय कब्रवा का उत्प पद्वान्म और जिस शाकवा के वह बोधवा की कि समस्त दुष्पी ने एक ही उत्प है, मीठ है।



अहिंसा—अतीत और वर्तमान



आप इतिहासकारों द्वारा निर्दिष्ट उस आदिम युग की कल्पना कीजिये जिसमें अव-नग्न मानव जंगलों में, पहाड़ों में और गुफाओं में रहता था एवं शिकार के आधार पर अपना निर्वाह करता था। मानव की इस स्थिति के साथ आज के स्पुतनिक-युग के मानव को तुलना करते समय हम देखते हैं कि प्रगति की दिशा सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा के मार्ग की ओर बढाए जा रही है।

जब ऋषभदेव ने मनुष्य-जीवन को अधिकाधिक सात्विक बनाने के उपायों की खोज की और मासाहार का पर्याय ढूढने में शक्ति लगाई तो “कृषि” का आविष्कार हुआ। यह आविष्कार निश्चय ही एक चमत्कार था। ठीक वैसा ही चमत्कार, जैसा आज अणु प्रयोग, एवरेस्ट विजय और चन्द्र-यात्रा की सफलताएँ चमत्कार की श्रणी में आ रही हैं। ‘जमीन मानवता का रक्षण एवं पोषण करने में समर्थ है, इसलिए ‘श्रम’ करो।’ यह उद्घोष अहिंसा का महान् सूत्र सावित हुआ। जब “श्रम” अहिंसा का प्रतीक बना, तब भूखो मरते पथ-भ्रष्ट मानव ने तोर-कमान को दूर फेंक दिया और हल एवं हसिया लेकर मैदान में आया। किसी के खून का प्यासा होकर भटकने वाला मानव सन्तोष और शान्ति के साथ “श्रम ही पूजा है” का मन्त्र गुन-गुनाने लगा। अहिंसा के इतिहास के सबसे बड़े अन्वेषक और सबसे

शौच-यज्ञी पर धमार्त हो उठने वाला हाकु बाल्मीकि विश्व विन मृदि बना उस दिव महिषा के जन्म पर फिर के धिन्नुर बना और तद्वत्ता वादप्य बाव क्य बीच मानवीय भेदना की छत्ती से गुदा । उल्लभ धातुविक्रम प्रेरणा के रघानुभव न कवि को बुद्धर बना दिया और महिषा की रक्तबाध से सद्यशोर कर दिया । उसके बाद साग इतिहास पक्षे ही जून से किया गया हो और हर गुप मे बुद्ध, मार काट आक्रमण एवं दिव्यविजय की कहाविया घटी हों केनिन बावदुर एवं सब दिव्य बहनाओं के महिषा का बीचा फलदा-पूछता रहा ।

महिषि बाल्मीकि वाचनात्मक महिषा के शरीरक बन कर भाए ती बहवान् आप्तवेद वास्तविक एवं किरात्मक महिषा के प्रवेता के रूप में अवतरित हुए ।

महिषा के प्रतिनिधि



यह बहुवक्ति और बात प्रवा के रूप में सब धोपन का बीरवीरा बल रहा था उस महिषा की तथा वेन बना बाव एवं गई परिचाया देने के लिए महावीर और बुद्ध ने सम्पूर्ण मानव जाति को रचा एवं कबचा का सप्रेम दिया "सम्भ जव बीच रक्तव्य दन्दद्वार बहवना मुनहिय बहवना । अर्थात् समस्त जातिजन्म की रक्षा के लिए रचा और बहवना का बहवना-बहवना के किया । यह एक ऐसा गुप था सब मानव-धोपन समाज से अपराध गही बाधा बाधा था । मनुष्य को लपिदा-वेधा बाधा था । बाध बहाम्ना बाधा था । बुद्धाधी की मानवीय कर्तव्य कपूर दिया गया था । बुद्ध और महावीर ने प्रथम बुद्ध में अपने अपने रूप के बर्कोटिक नाम किया और कारे समाज में एक व्यापक जाति की कहुर फैला दी । इस तरह की महिषक जाति का मानोमन्य तारे इतिहास में वाच्यन दुर्लभ ही है ।

महावीर बुद्ध-युग और ऋषभदेव-युग के बीच में रामायणकाल एव महाभारत-काल भी अहिंसा की दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। हालांकि महाभारत के युद्ध ने देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एव कलात्मक उपलब्धियों को बहुत बड़ी चोट पहुँचाई तथा भयानक नर-संहार ने अहिंसा के इतिहास को धूमिल जैसा ही कर दिया, परन्तु इस युद्ध के बाद सारा देश यह समझ गया कि हिंसा और युद्ध कितनी जहरीली चीज है और उसके दुष्परिणाम कितने भयंकर होते हैं।

अहिंसा के क्रियात्मक प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में पिछले दो हजार वर्षों में बराबर होते रहे हैं और महात्मा एव बुद्ध के अनेक विद्वान् उत्तराधिकारियों ने इन प्रयोगों को विकसित किया है। उनमें सबसे उज्ज्वल नाम चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन और कुमारपाल का है। सम्राट् अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद युद्ध के जिस भयावह रूप का दर्शन किया उससे उनका हृदय द्रवित हो उठा और परिणामस्वरूप वे अहिंसा की उस ऊँची भूमिका पर पहुँच गये कि अपने राज्य की सारी शक्तियों को उन्होंने बुद्ध के मानवीय संदेशों का प्रचार करने के लिए जुटा दिया। उन्होंने जगह-जगह लोक-सेवा के आश्रम स्थापित किये। यात्रियों के लिए पानी पीने के स्थान बनाये। मृगदावों की स्थापना के रूप में पशु-वध का निषेध किया। सड़कों पर पेड़ लगाये। भूखों के भोजन का प्रवन्ध किया। जेल में बन्द अपराधियों को मुक्त कर के उनके सुधार की योजनाएँ बनाईं। अहिंसा के उत्कर्ष के लिए हर संभव प्रयत्न किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त, हर्षवर्धन और कुमारपाल आदि की सेवाएँ भी भारतीय इतिहास के अत्यन्त हृदयग्राही उज्ज्वल पृष्ठ हैं।

मुस्लिम साम्राज्य के काल में भी अकबर एक ऐसा महान् सम्राट् हुआ, जिसने धर्म के भेदों से ऊपर उठकर कुछ ऐसे काम किये और

कोच-बस्ती पर बर्बाद हो उठने वाला राजू वास्तीकि, जिह दिन
 भवि बवा पठ दिन माहिम्ना के बाज पर फिर से तिरुर बवा और
 बहुरा पदम्य बाद का बीज मानवीय नेतृता की छठी के फुल ।
 उन्म सांस्कृतिक प्रगता के रसानुमय ने कवि की बुद्धि बना दिया
 और माहिम्ना की रसबाण से छलबोर कर दिया । उनके बाद ताग
 इतिहास भले ही बूज से किया गया हो और हर बुज से बुद्ध, नार
 काज मानमय एवं विविधजन की कहानियां बरी हा केमिन राजबुर
 इन सब हिम बदनमाओ के माहिम्ना का बीजा फलदा-बुद्ध्या रहा ।

महावि वास्तीकि ब्रह्मभारमक माहिम्ना के प्रतीक बन कर बाप् ठी
 मयमान् ज्ञानजैव वास्तीकि एवं किदात्मक माहिम्ना के प्रवेष्ट के बन
 य अवतरति हुए ।

माहिम्ना के प्रतिनिधि



बस वसुधनि और राज प्रवा के रूप में जब घोषण का बीररीय
 चल रहा था तब माहिम्ना की बवा बेल बवा प्राण एवं नई बलिबा
 केन के लिए महावीर और बुद्ध ने धम्मूर्ध मानक-वाति की बवा एवं
 बरका का मदेष्ट किया "ब्रह्म बस बीज रसजन बरद्दुवाए बपयवा
 मुनहित पदमय । बर्बात् नमस्त्य प्राविनपठ की रखा के लिए बवा
 और बरका का प्रबलन बरवान् से किया । वह एक एका पुन का बस
 मानव घोषण बरवा में अवतरण बही माना जाता था । धम्म की
 बरीबा-बैचा जाता था । राज बर्बादा जाता था । बुद्धानी की मानवीय
 कर्तव्य बरार दिया गया था । बुद्ध और महावीर ने जब रूप में बरने-
 बने इन से बर्बाकिक ब्रह्म किया और बारे ब्रमाय में एक ब्रह्मक
 कति की बहुर बीजा की । वह ठरह की बर्हिक कति का बरिरेक्य
 माने इतिहास में ब्रह्मन बुद्धव ही है ।

प्रिंस ओपाटकिन, टाल्स्टाय एव बर्नार्ड शां जैसे चिंतकों ने और वर्ट्ण्ड रसेल जैसे दार्शनिकों ने सारे योरोप में जिस तरह से अहिंसा के विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया और रस्किन ने “आन टू दी लास्ट” में जिस प्रकार सर्वोदय विचार का बीजारोपण किया, उसका अहिंसावादी प्रवृत्तियों के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है। यूनान, रोम और मिश्र तथा एशिया के दूसरे विभिन्न देशों के अनगिनत विचारकों ने मानवीय चेतना के जागरण का मधुर शख फूका एव मानवीय-शांति का सूत्र दिया।

हिन्दुस्तान में महर्षि दयानन्द ने वेदों का अहिंसात्मक विवेचन कर के सभी पुराण-पथी पंडितों के गुरुडम को हिला दिया और सारे देश में एक तहलका-सा मचा दिया, अपने में इतिहास की यह पहली घटना थी कि किसी चिंतक ने अश्व-मेघ आदि शब्दों का अर्थ अहिंसा परक किया हो। इन यज्ञों का विरोध तो पहले भी हुआ, पर अर्थ-परिवर्तन की यह क्रांति निश्चय ही अभूतपूर्व थी।

गांधी



इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में चमकता हुआ सब से नजदीक का जाज्वल्यमान नक्षत्र है—मोहनदास करमचंद गांधी। जिसने अहिंसा के आज तक के विकास को नया मोड़ दिया। हिंसा की जो व्याख्या सीमित कठघरों में बंध गई थी उसे उन्होंने व्यापक-क्षेत्र प्रदान किया। पुराने शास्त्रों, रूढ़ियों तथा परंपराओं में बंधी बंधाई अहिंसा को उन्होंने नये स्वर दिये। विना रक्तपात के आजादी की लड़ाई का अमोघ उपाय बताया। “श्रम” को पुनः प्रतिष्ठित किया। शोषण और छल के विरोध में सार्विक जीवन का मार्ग बताया। असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा का एक ऐसा अहिंसक रास्ता खोज निकाला कि गुलामी

कोक-देवा के आशोधन किसे जिन्हें देकर उनके हृदय में बड़े आदर की कल्पना की जा सकती है ।

दुर्भाग्य-सम्भार

७

परन्तु दुर्भाग्य के अविनाश रात्रियों और छात्रों ने अपनी साम्राज्यवादी दृष्टि को घुटी करने में ही समय पड़ा। कोक-देवा के प्रवल वन हुए और साम्राज्य विस्तार के प्रवल उपाय हुए। सिक्खर और औरपदेव जैसे बनेक छात्रों ने व्यक्तिगत महत्वा कलाओं के धामने देव की दृष्टि-विस्तार की बोधवाओं को चकनाचूर कर दिया।

परन्तु जिसने बन्नाई की हुए और उन्होंने एक सामान्य दुर्भाग्य-जीवन में जीकर भी समान में अन्तर्गत की तथा बर्बर एवं हिंस्र दुर्भाग्य प्रवा का सामना किया। यह एक विवादास्पद बात है कि मार्क्स ने जिस दर्शन का अनुपात किया उसका महत्त्व अहिंसावादियों के दृष्टिकोण में है या नहीं ? बाद-घातन में जो समय तक चल रहा था और जिस बीजक घोषण के नाके बाधक बंधन रहे थे उनके खिलाफ विद्रोह की बात बढ़ाना हिता है या अहिंसा ? यह डीक है कि कम्युनिज्म ने लोगों की दृष्टि पर बल नहीं दिया क्या है परन्तु साम्य की दृष्टि को तो ध्यान में रखा ही क्या है। गरीबी पाप है इसका सबसे पहला राजनीतिक क्षेत्र में अनुभव कर के मार्क्स की बनेक अहिंसावादियों की दृष्टि में करना मुक्ति महति बन गई है ! विरोध और दावा वर्माधिकारी जैसे अहिंसावादियों ने भी मार्क्स को महामुनि स्वीकार किया है। हालांकि मार्क्स के बाद रूस में जिस तरह से उनके सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ उसका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता।

प्रिंस क्रोपाटकिन, टाल्स्टाय एव बर्नार्डि शॉ जैसे चिंतको ने और वट्रण्ड रसेल जैसे दार्शनिको ने सारे योरप मे जिस तरह से अहिंसा के विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया और रस्किन ने “ऑन टू दी लास्ट” मे जिस प्रकार सर्वोदय विचार का बीजारोपण किया, उसका अहिंसावादी प्रवृत्तियों के इतिहास मे गौरवपूर्ण स्थान है। यूनान, रोम और मिश्र तथा एशिया के दूसरे विभिन्न देशो के अनगिनत विचारको ने मानवीय चेतना के जागरण का मधुर शख फूका एव मानवीय-शांति का सूत्र दिया।

हिन्दुस्तान मे महर्षि दयानन्द ने वेदो का अहिंसात्मक विवेचन कर के सभी पुराण-पथी पंडितों के गुरुदम को हिला दिया और सारे देश में एक तहलका-सा मचा दिया, अपने मे इतिहास की यह पहली घटना थी कि किसी चिंतक ने अस्व-मेघ आदि शब्दो का अर्थ अहिंसा परक किया हो। इन यज्ञों का विरोध तो पहले भी हुआ, पर अर्थ-परिवर्तन की यह क्रांति निश्चय ही अभूतपूर्व थी।

गांधी



इस पृष्ठभूमि के प्रकाश मे चमकता हुआ सब से नजदीक का जाज्वल्यमान नक्षत्र है—मोहनदास करमचंद गांधी ! जिसने अहिंसा के आज तक के विकास को नया मोड़ दिया। हिंसा की जो व्याख्या सीमित कटघरों मे बंध गई थी उसे उन्होंने व्यापक-क्षेत्र प्रदान किया। पुराने शास्त्रो, रूढ़ियों तथा परंपराओं मे बंधी बंधाई अहिंसा को उन्होंने नये स्वर दिये। विना रक्तपात के आजादी की लड़ाई का अमोघ उपाय बताया। “श्रम” को पुन प्रतिष्ठित किया। शोषण और छल के विरोध मे सात्विक जीवन का मार्ग बताया। असहयोग अथवा सविनय अवज्ञा का एक ऐसा अहिंसक रास्ता खोज निकाला कि गुलामी

की बंधीरें भी टूट नहीं । परमात्मा के विज्ञान का आविष्कार तो यह पुनः के अहिंसावादी तत्त्वों के लिए बरछान ही बन गया ।

इस प्रकार अहिंसा का समुत्पन्न इतिहास हमारे सामने है । बल्लभ के बाल्य की परंपरा में तुलसी और कबीर की अहिंसा ने बीछ और नुन की बलि ने करना की मरल बाधण बढ़ाई है । बाल्य का भी विरोधमा और बाबाबाकी पर किया गया बय प्रबोध मानव में स्थित बद्धता के अस्तित्व का ज्ञान कराता है, परन्तु कहा तो यह बारिब-बुन बय मानव की अहिंसा के बारिब का ज्ञान तक नहीं था और कहा का ज्ञान-बुन बय मानव बाह्य-मुक्त और बाल्य-मुक्त होकर बाल्य बिल की एकता का बयना देव एक है । इसलिए निश्चय ही अहिंसावादी धर्मों का अविन्य बहुत उम्मेदक है ।

सम्प्रदायों की ओर से हिंसा को प्रोत्साहन



बाल्य सम्प्रदायों की स्थापना बाल्य के उन ऊँचे बारिबों के लिए की गई बिलके प्रचार से सम्पूर्ण मानव-बालि का बिकल हो बकला था । परन्तु बाबा की बाल्य-सम्प्रदायों बय ऊँचे बारिबों को नुन नहीं है और बाल्य-बाल्य अस्तित्व की रक्षा के लिए बालि-से बालि काय करने ने भी बालिबाली नहीं है ।

बाबा के बालि और बालि बाल्यबाल्य की बाली बाल्यबाली मजहरी बालीबाल पर ही है । बिल ऊँचे और बालि बाल्य ने बाल्य विज्ञान के बय ने अहिंसा एकता और बाल्य का बालिबाल किया बाली बाल्य की बाल्यबाल करने के लिए बाबा की बय-बाल्य बाल्यबाली बीक पाली है ।

मुस्लिम संप्रदाय



यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि हिंसा का अर्थ केवल जीव-हत्या या प्राण-व्यपरोपण ही नहीं है। समाज में कलह, द्वेष, ईर्ष्या, फूट, वर्मनस्य और मनमुटावों को पैदा करने वाली प्रवृत्तियाँ भी पूर्णतः हिंसा हैं और भयंकर हिंसा हैं। इस तरह की भावात्मक हिंसा को प्रोत्साहन देने में पथवाद और सम्प्रदायवाद ने बहुत काम किया है। इतिहास साक्षी है कि हिन्दू धर्म और मुस्लिम धर्म के भेद ने समाज का कितना बड़ा अहित किया है। ये दोनों धर्मावलम्बी आज दुर्भाग्य से एक-दूसरे के जानी दुश्मन बन गये हैं और हर सम्भव तरीके। एक-दूसरे के धर्म को अथवा धर्मजन्य जाति को नीचा दिखाने के प्रयत्न में रहते हैं। हम ज्यादा विस्तार में न जाकर केवल औरंगजेब का उदाहरण ही देख लें। औरंगजेब एक पक्का मुसलमान था और उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए हिन्दुओं, जैनो और बौद्धों पर समान अत्याचार किया। उसने हजारों, लाखों पुस्तकें जला डाली। अनगिनत मंदिर और मूर्तियाँ तुड़वा डाली। सैकड़ों वेवस बहू-बेटियों की इज्जत के साथ खिलवाड़ हुआ। उसका कहना यही था कि मैं धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण काम कर रहा हूँ और मेरा धर्म तलवार के बल पर ही फैल सकता है। पर सच्चाई क्या है? क्या कहीं सच्चे इस्लाम धर्म में इस तरह के अत्याचार के लिए तनिक भी गुजाइश है? क्या कुरान में इस तरह के पाप के लिए तिलमात्र को भी स्थान है? नहीं। परन्तु मजहब के नशे ने धर्म की सच्चाई को ढक लिया।

दूसरा सब से ताजा उदाहरण पाकिस्तान का है। क्या हिन्दुस्तान के दो टुकड़े होने से इस्लाम धर्म बच गया? “इस्लाम खतरे में” का नारा देने वाले बतायें कि क्या अब इस्लाम सुरक्षित है? पाकिस्तान

उन हजारों मानुष बच्चों और स्त्रीयों की बहनों के बून पर बाढ़ है, जिनको बल करके बह्मजत किया गया और ठकड़ा-ठकड़ा कर मार डाला गया। बरी-की घरी पारियों काट डाली गयी। कुपं बाघों से मर गये और बाघों मानव केसरवार तथा बह्मजत हो गये। परन्तु इस्लाम की रक्षा का हम करने वाले बूझ हाते रहे और वह कहते रहे कि हम पाकिस्तान केकर ही नार्नेने। पाकिस्तान की प्रतिष्ठा के इस्लाम में भी हिंसा की कहूर बीड़ी और मानव मानव न चूकर मानव बन गया।

बौद्ध संप्रदाय



ये बोद्धो महाहरण बजहूरी कटुता और पंचवारी हिंसा के केचोड़ महाहरण है। परन्तु इस पाप के बानी केचक हिन्दू-मुसलमान ही नहीं है। मानव जीवन बर्ष के अनुवाकियों न भी सम्राज्य के नाम पर कितना बीमबस्य बन रहा है वह प्रतिदिन का बाघों केहा वृत्त है, बम्बेद विचार पर स्वेतावर्षों का बधिकार हो ना विषयों का? इस प्रश्न की केकर बाघों समये बर्ष किये गये। परन्तु के न्याय की बीज बीज नहीं और धर्म का विचार बड़ाकर बन ईसाई का कारणान्त रखा गया। मूर्तियों के नाम पर तथा बधिकार के नाम पर एक नहीं बल्कि माने दिन बनेक बाघों होते रहते हैं और मानवी बीमबस्य के बीज बोए जाते हैं। ठेरापकी कहते हैं कि विषय हमारे बाघुओं के नाम सब गुपाय हैं मर किसी भी कल्प ब्रह्मण्य के पापु या गृहस्थ को मान देना पाप है। वह भी बड़ा विषय ब्रह्मण्यब्रह्मण्यब्रह्मण्य है? स्वानकवाकियों की रक्षा भी कुछ कम विषय नहीं है। कुछ बाघु तथा मानव ब्रह्मण्य हीन भाषा के बर्षयत और हिंसक तरीकों के

एक-दूसरे के प्रति आक्षेप, निन्दा एवं छोटाकशी करते रहते हैं। किसी भी साधु के पास जाइए, वह प्रायः अपनी तारीफ़ करेगा और दूसरो की निन्दा करेगा। मूर्ति-पूजक परम्परा में तो सहसा यह पता ही नहीं चलता कि कितने भेद-प्रभेद हैं। सड़तरगच्छ, तपागच्छ, तीन-धुई, चार-धुई और न जाने किस किस नाम से झगड़े खड़े किये गये हैं। हमारे यहां कभी लाउडस्पीकर के नाम से, कभी सवत्सरी की तिथि के नाम से, कभी छोटी बड़ी मुखपत्ती के नाम से, और कभी किसी दूसरे ही अजीबोगरीब नाम से रोज झगड़े होते रहते हैं।

आर्य-समाजी और ईसाई मानो एक-दूसरे के विरोध के लिए ही पैदा हुए हैं। जब देखो, एक-दूसरे के खिलाफ जहर उगलते रहते हैं। हिन्दू धर्म के अनेक फिरके हैं। ये सब आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं और दूसरो के विरुद्ध समाज को भड़काते रहना ही अपना सबसे बड़ा धर्म समझते हैं। इसी तरह ईसाई धर्म में कैथालिक और प्रोटेस्टेंट हैं। योरोप में इन दोनों पथों ने इतना वैमनस्य और द्वेष खड़ा कर रखा है कि जिसे देखकर दातो तले उगली दबानी पड़ती है और यह कहने को मन नहीं मानता कि उनमें कुछ भी धर्म के गुण शेष रह गये हैं। जिस प्रेम का पैगाम ईसामसीह ने दिया उसे भूलकर आज उसी धर्म के अनुयायी सत्तार में हिंसा और अशांति को प्रोत्साहित कर रहे हैं।

यही हालत बौद्धों में हीनयान तथा महायान की है। एशिया के जिन देशों में बौद्ध धर्म अधिक प्रचलित है, वहां के लोग अक्सर यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने करुणा और सौहार्द का जो रास्ता दिखाया उसकी जगह हम सांप्रदायिक अभिनिवेश में फँसकर क्रूर मानसिक हिंसा के शिकार होते जा रहे हैं।

कहा तक इन संप्रदायों के वैमनस्य की कहानी बताई जाय। यदि कोई ध्यान से अध्ययन करेगा तो उसे यही दिखाई देगा कि इन

पंथों के आचार्यों एवं संस्थाओं के शास्त्रों धर्म का उद्देश्य पौन हो गया है और अपने पथ के अस्तित्व की रक्षा का प्रयत्न ही मुख्य है। इसीलिए आज धर्म पर से युवकों की आस्था हिल रही है और बहिर्वाहियों का एक बहुत बड़ा ठंडका धर्म का विरोधी बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हम बात की परम आवश्यकता है कि सभी धर्मों के बीच आपस में मिलें। भाईचारा बढ़ाएं। विभिन्न सम्प्रदायों पर विचार विनिमय करें और आपस में एकठा जेब एवं कीड़ा बाँटें करें। यही सच्ची सांस्कृतिक और मानवीय श्रेय है और यही धर्म मानविक बहिष्ता का मार्ग है। मानवता को जब बहिष्ता के प्रचार के लिए कामज हुए, वे हिंसा एवं क्रूर के प्रचारक बन जायेंगे।

अहिंसकों की गतिविधियाँ



आज दुनिया में हिंसा और बहिष्ता का मुकाबला है, पर हिंसक-प्रवृत्तियों की बहिष्ता का प्रभाव बहुत कम दिखने लगती है। वे चुनकर प्रकट होने से लगती हैं। यह हम बात का प्रमाण है कि अब दुनिया भर के लोगों की अज्ञा हिंसा पर से हिल गई है और आज का नव-मानव बहिष्ता पर दुः आस्था के साथ जीना चाहता है। यह धर्म प्रमाण है।

अमेरिका के राष्ट्रपति जी केनेडी ने "हाउस हाउस" के निकले दिनों कहा कि "अमेरिका का के शासक मंत्री चाहता है और वह प्रियता का वातावरण तैयार कर रहा है।" इस कथन के दूसरे ही दिन अमेरिकी के यह समाचार प्रकट हुआ कि केनेडी अल्पसंख्यक के दिख रहे हैं और अल्पसंख्यक ने कहा कि अब बहिष्ता हिंसा का प्रमाण

छोड़ने के लिए तैयार नहीं होंगे तो दुनिया की समृद्धि तथा तरक्की खतरे में पड़ जायेगी। आखिर विश्व-राजनीति को हिलाने वाले खिलाड़ी-द्वय आपस में मिले और इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिंसा का खोफनाक माँ न अपनाया जाय तथा दोनों देश मिलकर सम्पूर्ण विश्व में शांति की स्थापना के लिए सम्मिलित प्रयत्न करें।

हालांकि आज भी हवा में अहिंसा की खुशबू विद्यमान है, पर धरती का कण-कण हिंसा के घमाकों से कपित भी है।

पिछले दिनों अहिंसावादियों के लिए नव-से-बडे सिर दर्द दो देश थे। कांगो तथा जंगोला। कांगो में जिस तरह निर्दयतापूर्वक महान लुमुबा की हत्या की गई, वह इतिहास में घृणा, मूर्खता और ईर्ष्या का कलकित पृष्ठ बना कर रह जायेगी। साम्राज्यवादी लोभियों ने सत्ता और धन के लोभ में जिस हैवानियत का परिचय दिया, उससे न केवल अहिंसावादी बल्कि स्वयं साम्राज्यवादी भी चकित रह गए और संयुक्त राष्ट्र-संघ में सभी ने एक स्वर से इस दुर्घटना की निंदा की।

अंगोला में जिस प्रकार साम्राज्यवादी मशीनगनों ने वेपनाहू तथा निशस्त्र हजारों अफ्रीकियों की भून डालने की गुस्ताखी की थी वह निस्संदेह अहिंसावादियों के लिए चिंता की बात थी और इससे अहिंसा का जो विचार काफी दूर तक आगे बढ़ा था, वह वापिस पीछे की ओर धकेल दिया गया। लंदन के वामपंथी साप्ताहिक “न्यू स्टेट्समैन” ने घोषणा की है कि करीब ३५ हजार निरह्थे अफ्रीकी मौत के घाट उतार दिये गये। दक्षिण पंथी साप्ताहिक “स्वेक्टेटर” और स्वतंत्र साप्ताहिक “इकोनोमिस्ट” का भी यही कहना है कि अफ्रीकी लोग बिना भेद-भाव के कुचल दिये गये और यह कहा गया है कि “घायल मत करो। अस्पतालों में जगह नहीं है। सीधे मारो। खतम करो। ताकि दुवारा वे सिर न उठा सकें। आजादी की मांग का सबक

बूढ़ा हो कर मरने की तैयारी कर रहा है । हम एक है । सब आपस में भाई-भाई हैं । महावीर, बुद्ध और गांधी ने हमें प्रेम और अहिंसा का पथ बताया है । तब भी हम भापा प्रान्त के वेवुनियाद झगड़े को लेकर उलझ पड़ते हैं । दगा कर बैठते हैं । गोलियाँ चला बैठते हैं । जरा से विरोध पर हर किसी महान से महान व्यक्ति पर छुरा चलाने की हरकतें कर बैठते हैं । यह सब क्या है ? क्या हमारी नादानी नहीं है ? न जाने कितने नये पुराने मसले हैं जो हमारी निहायत बेसमझी का प्रदर्शन कर रहे हैं और हमारी गहरी अहिंसक परम्पराओं का उपहास कर रहे हैं ।

